डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

# इतिहास और साहित्येतिहास

डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

# इतिहास और साहित्येतिहास

इतिहास और साहित्येतिहास

# इतिहास और साहित्येतिहास

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ

प्रकाशक :
भारतीय साहित्य प्रकाशन
२८६, चाणक्यपुरी, सदर,
मेरठ-१

संस्करण : १९९१

मूल्य : ७५.००

मुद्रक :
भारती प्रिंटर्स
दिल्ली-३२

सन्ध्या

अंशुमान

वैभव

को

'इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना ।
लोक गर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् संप्रकाशितम् ।।'

—**महाभारत**

'The historian's duty is to separate the
true from the false, the certain from
the uncertain, and the doubtful
from that which cannot be
accepted...'

—**गेटे**

('द मैक्सिम्स एण्ड रिफ़लेक्शन्स ऑव गेटे')

'Time present and Time past
Are both perhaps present in Time future,
And Time future contained in Time past,
If all Time is eternally present
All Time is unredeemable.'

× × ×

'We shall not cease from exploration
And the end of our exploring
Will be to arrive where we started
And know the place for the first Time.'

—**टी० एस० इलियट**

# आमुख

किसी भी राष्ट्र की नागरिक शिक्षा और उसके सार्वजनिक जीवन में इतिहास का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। उसके द्वारा मनुष्य अपने मानसिक एवं बौद्धिक क्षितिज को व्यापकत्व प्रदान करता है। मानव-जीवन में क्या स्थायी है, क्या अस्थायी, इसका निर्णय हम इतिहास द्वारा कर सकते हैं। इतिहास-विधाता की छलनी से छन कर जो कुछ अवशिष्ट रह जाता है वही हमारे जीवन का अंग बनता है। इतिहास केवल जातीय, भावनात्मक और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति का साधन नहीं है। कुछ विपरीत मतों के रहते हुए भी, उससे महान् और उच्च कोटि के व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से पाठक का चारित्रिक उत्थान होता है, सह-अनुभूति पैदा होती है, मनुष्य के नैतिक कर्म और उसकी नियति में सम्बन्ध और मानव-क्रिया-कलाप का बहुमुखी व्यापकत्व स्थापित होता है। इतिहास के अध्ययन से एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का रहस्य ही नहीं, अपने जातीय जीवन का रहस्य भी जान जाता है। व्यक्ति इतिहास में और इतिहास व्यक्ति में निहित रहता है। सम्पूर्ण जगत् के सम्बन्ध में संतुलित दृष्टिकोण ग्रहण करने के लिए, वर्तमान को सही-सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए, समग्र जीवन का क्षेत्र अपने सामने रखने के लिए इतिहास का ज्ञान आवश्यक है। जीवन के रास्ते पर चलते हुए मुसाफ़िर को अपने चारों ओर का वातावरण और परिस्थिति समझने के लिए इतिहास उसके पथ-प्रदर्शन का काम करता है। एक राष्ट्र के जीवन में इतिहास का महत्व इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इतिहास में समय-समय पर संशोधन-परिवर्तन और काट-छाँट करता रहता है और विद्यार्थियों को एक विशेष मानसिक और बौद्धिक साँचे में ढालने का प्रयत्न किया जाता है। फ़्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, चीन आदि देशों में ऐसा हो चुका है। भारतवर्ष भी अब इसका अपवाद नहीं है। इतिहास के अध्ययन के बिना न तो दूरदर्शी जननायक और राजनेता का जन्म हो सकता है और न राजनीति में विवेकपूर्ण सक्रिय भाग लिया जा सकता है। इतिहास कोरी राजनीति तो नहीं है (history is cold, politics is hot), किन्तु उससे राजनीतिक साधनों की शिक्षा प्राप्त होती है और भावी राजनीतिक उन्नति का पथ प्रशस्त होता है।

जीवन में कार्य-कारण-शृंखला अपरिवर्तनीय नहीं होती। इसलिए इतिहास की पुनरावृत्ति तो नहीं होती, तो भी वर्तमान पीढ़ी जिन समस्याओं का सामना करती है वे अतीत काल में भी किसी-न-किसी रूप में आ चुकी रहती हैं। एक घटना के फलस्वरूप जो वातावरण बन जाता है वह आगे आने वाली घटनाओं का कारण बन जाता है। व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। कोई भी व्यक्ति हमेशा एक ही स्थिति में नहीं रहता और न उसके और उसके चारों ओर के समाज के बीच सम्बन्ध समान बने रहते हैं। तो भी प्रत्येक परिपक्वावस्था-प्राप्त व्यक्ति अपने जीवन के विगत अनुभवों से लाभ उठाता है। व्यक्ति और जाति या राष्ट्र में एक अन्तर अवश्य है। वह यह कि दोनों का व्यक्तित्व एक जैसा नहीं होता। राष्ट्र में आत्मचेतना के नैरन्तर्य का अभाव रहता है। उसके पास नैसर्गिक स्मरण-शक्ति नहीं होती। उसे बातें याद करानी पड़ती हैं। इस कार्य में इतिहास सहायता प्रदान करता है। वह मानव जाति की आत्मचेतना जगाता है, अन्तरात्मा पहचानने का साधन प्रदान करता है। उसके द्वारा मानव जाति अपनी नियति पहचानती है। वास्तव में मनुष्य का जीवन इतना क्षणभंगुर है और हम अपनी ही दृष्टि में इतने बौने हैं कि इतिहास से परिचित व्यक्ति ही सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अपने समय तक का जीवन जी सकता है और मानव जाति-सम्बन्धी ज्ञान की वृद्धि कर सकता है।

आत्मचेतना जगाने और अन्तरात्मा पहचानने में साधन के रूप में स्वीकृत होने के कारण आज 'इतिहास' का अत्यन्त व्यापक अर्थ ग्रहण किया जाता है। इस व्यापकतम अर्थ के अन्तर्गत इतिहास-पूर्व जीवन-काल से लेकर आज तक का समस्त बहुमुखी एवं विविध क्षेत्रीय मानव-क्रिया-कलाप 'इतिहास' माना जाता है। उसकी परिधि इतनी विस्तृत हो गई है कि मानव जाति का समग्र जीवन उसके अध्ययन का विषय बन गया है।

उसकी इस व्यापक परिधि से ही सम्बद्ध साहित्येतिहास है। कोरा वृत्त-संग्रह, कवि-नामावली, कालक्रमानुसार ग्रन्थों का अध्ययन और उनकी आलोचना उसी प्रकार साहित्येतिहास नहीं है जिस प्रकार सम्राटों के नाम और कृत्य, योद्धाओं के वीरदर्पपूर्ण आख्यान, युद्धों की तिथियाँ, प्रशासनिक सुधारों की तालिकाएँ इतिहास नहीं हैं। साहित्येतिहास अपनी सामग्री का उपयोग करते हुए भी उन सबसे ऊपर मानव जाति को, अपने को, पहचानने के लिए ज्ञान का एक विशिष्ट एवं स्वतन्त्र साधन है। इस सम्बन्ध में मैंने अगले पृष्ठों में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। यहाँ केवल इतना ही कह देना चाहता हूँ कि स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते हुए मानव की खोज ही साहित्येतिहास है। इसी रूप में वह सामान्य इतिहास-सम्बन्धी व्यापकतम आधुनिक धारणा से सम्बद्ध है और इसीलिए साहित्येतिहास के साथ-साथ इतिहास पर भी विचार किया गया है। इस पुस्तक में मेरा मुख्य उद्देश्य

साहित्येतिहास की धारणा स्पष्ट करना है। किन्तु सामान्य इतिहास को समझे बिना साहित्येतिहास का मर्म समझना कठिन है।

स्वयं कई साहित्येतिहासों का निर्माण करने और अन्य विद्वानों द्वारा लिखित साहित्येतिहासों का अध्ययन करने पर भी मैं साहित्येतिहास का वास्तविक मर्म उसी प्रकार न समझ सका था जिस प्रकार कलछुल पाक में रह कर भी पाक का स्वाद नहीं जान पाता। इसी मर्म को समझने के पिछले चार-पाँच वर्षों के प्रयास की अन्तिम परिणति ही प्रस्तुत छोटी-सी पुस्तक है जो, मुझे आशा है, मेरे और हिन्दी के सुधी पाठकों के बीच 'पाइप लाइन' का काम करेगी। ज्ञानोदधि से मुझे जो रत्न मिले उन्हें मैंने धागे में पिरो भर दिया है। उनके बारे में मैं क्या कहूँ, क्योंकि बुजुर्गों का कहना है कि अपने हाथ से गूँथ कर पहनी माला इन्द्र की भी श्री नष्ट कर देती है। निर्णय पूर्वाग्रह-रहित पाठकों के हाथ में है।

अध्ययन की सुबिधा के लिए विवेच्य विषय विभिन्न शीर्षकों में विभाजित कर दिया गया है। प्रचलित अर्थ में संभवतः वे 'अध्याय' नहीं हैं। अँगरेज़ी के उद्धरण और वाक्यांश एवं शब्द अपने मूल रूप में उद्धृत करने के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ, क्योंकि मैं समझता हूँ अनुवाद करने से मूल का 'स्वाद' मारा जाता है।

जिन भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों के विचारों से मैंने लाभ उठाया है, मैं उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ। पुस्तक की पाण्डुलिपि पढ़ने और यथास्थान संशोधन करने और सुझाव देने के लिए श्रीमती राज वार्ष्णेय को धन्यवाद देना तो अपने को ही धन्यवाद देना होगा।

३-ए ताशकन्द मार्ग, इलाहाबाद
११ अगस्त, १९८४

—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

# विषय-विभाजन

## खण्ड : १ इतिहास


आमुख ७
१. अथातो इतिहास जिज्ञासा १५
२. इतिहास-लेखन : भारतवर्ष २२
३. यूरोप में इतिहास-दर्शन ३१
४. भारत में आधुनिक इतिहास-लेखन प्रणाली ५१
५. इतिहास : कला या विज्ञान ५६
६. इतिहास-लेखन की आधुनिकतम प्रवृत्ति ६५


## खण्ड : २ साहित्येतिहास


७. साहित्येतिहास में साहित्य और जीवन ७३
८. साहित्येतिहास क्या है ८२
९. काल-विभाजन १०१
१०. हिन्दी साहित्येतिहास में काल-विभाजन ११४
११. हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन की सामग्री १२९
१२. हिन्दी साहित्य के प्रमुख इतिहास-ग्रन्थ : मूल्यांकन १३७
१३. नई दिशा १४९

खण्ड : १

# इतिहास

# १. अथातो इतिहास जिज्ञासा

भारतीय क्षणिकवादियों के मतानुसार संसार दीप-शिखा की भाँति प्रत्येक क्षण परिवर्तनशील है, क्योंकि वर्तमान दूसरे ही क्षण मृत हो जाता है। दीपक की शिखा प्रति क्षण मिटती रहती है। फिर भी एकधारा-सी बनी रहने के कारण वह शिखा, शिखा के रूप में दिखाई देती है। उसका स्थायी और सत्य प्रतीत होना भ्रान्ति है। आत्मा तक नित्य वस्तु नहीं, क्षणिक है। उनके मतानुसार वासना की आधारभूता बुद्धि भी क्षणिक है। घोड़ा मोल लेते समय उसकी परीक्षा कर मोल लेना असम्भव है, क्योंकि जिस क्षण घोड़ा देखा था तब वह और घोड़ा था, जिस क्षण उसे स्पर्श किया तब कुछ और हो गया, दुबारा जब देखा तब वह कुछ और हो गया था। इसलिए घोड़ा जैसा प्रारम्भ में था, वैसा रहा ही नहीं। मृत्तिका और घट-निर्माण-क्रम के सम्बन्ध में भी क्षणिकवादियों का कथन है कि जिस पूर्व क्षण में मृत्तिका उत्पन्न हुई, वह उसके कार्य-रूप घट तक पहुँचते-पहुँचते परिवर्तित हो जाती है। केवल विज्ञान (अनुभव) की धारा ही पदार्थ रूप में प्रतीत होती है। वास्तव में क्षण ऐसा सूक्ष्म काल है जिसकी इयत्ता नहीं हो सकती। व्यतीत हो जाने के कारण भूत या अतीत का नाश हो जाता है। अतीत का ज्ञान मिथ्या ज्ञान है। अतएव सामान्यतः अतीत से सम्बन्धित होने के कारण इतिहास भी मिथ्या ज्ञान कहा जा सकता है। तो क्या अतीत का या सामान्य अर्थ में प्रचलित 'इतिहास' का लिखा जाना सम्भव नहीं है?

सम्भव हो या न हो, हम दिन-रात इतिहास की चर्चा करते हैं। सिकन्दर, सम्राट् अशोक, चन्द्रगुप्त, नेपोलियन, लेनिन, महात्मा गाँधी आदि महान् व्यक्तियों को इतिहास-निर्माता और युग को एक नवीन दिशा की ओर मोड़ देने वालों के रूप में स्मरण किया जाता है। काल-पथ पर पड़े उनके पग-चिह्नों का हम उल्लेख करते रहते हैं। जीवन के अनन्त प्रवाह में घटित घटनाओं और परिस्थितियों का विवरण हमारे ज्ञान-संवर्द्धन में सहायक सिद्ध होता है। मानव-जीवन के समग्र विकास अर्थात् समष्टि चेतन से व्यष्टि चेतन की उत्पत्ति के समय से लेकर, दुर्निवार्य आवागमन की परम्परा में पड़ कर क्रमशः विभिन्न योनियों में भटकते हुए जीव द्वारा शक्ति-सम्पादन से लेकर, परब्रह्म रूपी महासागर में निरन्तर

उठती हुई अनन्त ब्रह्माण्ड रूपी तरंगों के उत्पन्न और विलीन होने की सनातन क्रिया से लेकर अद्यतन धर्म, समाज, साहित्य, संस्कृति, कला आदि के विकास-क्रम का अध्ययन कर हम अपने को ही समझने की क्रिया में निरन्तर संलग्न रहते हैं। जीवन के परिवर्तन और विकास में पड़े मील के पत्थर 'इतिहास-विधाता' के पग-चिह्न माने जाते हैं। व्यावहारिक रूप में हम एक संस्था के 'इतिहास' की बात करते हैं, राजनीतिक दलों का भी अपना 'इतिहास' होता है, यहाँ तक कि एक स्त्री के जीवन का अपना अलग 'इतिहास' माना जाता है और प्राचीन भग्नावशेषों का 'इतिहास' अनेक भावनाओं और कल्पनाओं से संवेष्टित रहता है। 'हिस्ट्री-शीटर' भी मिलते हैं। वास्तव में प्रत्येक वस्तु, विषय, व्यक्ति, आचार, धर्म, समाज, जाति, अन्वेषण, कला, साहित्य, कानून, आन्दोलन आदि का 'इतिहास' होता है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी नाम बनकर नहीं, केवल एक घटना या एक परिस्थिति बन कर 'इतिहास' में अपने को जीता समझ कर सन्तोष धारण करता है। इतिहासकार के लिए हेमू वणिक और सम्राट् अकबर में कोई अन्तर नहीं। टॉमस कार्लाइल के शब्दों में : "social life is the aggregate of all the individual men's lives who constitute society; history is the essence of innumerable biographies." इतिहास का भी 'इतिहास' है। दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की भाँति 'ऐतिहासिक दृष्टिकोण' भी प्रचलित है। ईसा की १७वीं-१९वीं शताब्दी के बाद 'ऐतिहासिक दृष्टिकोण' ने विशेष महत्व ग्रहण किया। सम्प्रति केवल नगरों, प्रान्तों, देशों, जातियों और युगों के 'इतिहास' के अतिरिक्त जीवधारियों मात्र के सामूहिक इतिहास की ओर ध्यान जाने लगा है जिसके लिए जीवाणु के अंकुरित और विकसित होने, जादू-टोनों, मिथकों, धर्म, समाज, संस्कृति के सभी पक्षों का अध्ययन करना अनिवार्य हो गया है। प्रागैतिहासिक ज्ञान, नृतत्व-विज्ञान, समाज-विज्ञान आदि का ज्ञान मानव जाति के समग्र विकास का इतिहास हृदयंगम करने के लिए अब आवश्यक समझा जाता है। खण्ड रूप में नहीं, अखण्ड रूप में मानव जाति का इतिहास उसके 'इतिहास' का अनिवार्य अंग बन गया है। केवल कल्पना या मौखिक रूप में चली आ रही परम्पराओं के आधार पर इतिहास निर्मित नहीं हो सकता। मनुष्य ने अपने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से प्रेरित होकर ही डार्विन के विकासवाद का, फ़्रॉयड के मनोविश्लेषणशास्त्र का, कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का और गाँधी के सत्य और अहिंसा का आश्रय ग्रहण किया। विज्ञान की अनेक शाखा-प्रशाखाओं का जन्म ही न होता यदि मनुष्य के ऐतिहासिक दृष्टिकोण या परिप्रेक्ष्य का अस्तित्व न होता। किन्तु ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं से सम्बद्ध होते हुए भी इतिहास को इतिहास बना रहना है।

इतिहास के प्रति यह सामान्य दृष्टिकोण मानव जाति के आदिम काल से

पाया जाता है। भारतवर्ष में चतुर्युगों की कल्पना बहुत-कुछ ऐसी ही है। हमारे यहाँ पुराणों को भी इतिहास की संज्ञा प्रदान की गई है। वास्तव में 'इतिहास' शब्द का प्रयोग (१) प्राचीन या विगत काल की घटनाओं के लिए और (२) उन घटनाओं से सम्बन्धित धारणाओं के लिए किया जाता है। 'इतिहास' (इति+ह+आस) शब्द का अर्थ है—"यह निश्चय था' या 'ऐसी घटना हुई थी' या 'यह ऐसा हुआ' :

**इति हेत्यव्ययं पारम्पर्योपदेशाभिधायि। तस्यासनम्**
**आसः अवस्थानमेतेष्विति इतिहासाः पुरावृत्तानि।**

अँगरेज़ी में history शब्द की व्युत्पत्ति < < < Gk. 'Histor' या 'Historia' से मानी जाती है। कुछ विद्वानों ने ग्रीक 'हिस्टरी' का शब्दार्थ 'बुनना या खोज करना' बताया है जिससे उनका तात्पर्य है : ज्ञात घटनाओं को सार्थक, सुव्यवस्थित और सुसम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करना। विद्वानों ने हिरोदोतस को पश्चिम का सर्वप्रथम इतिहास-लेखक माना है जिसने इतिहास को एक शिक्षाप्रद वैज्ञानिक मानवीय विधा के रूप में स्वीकार किया। उसने उसे निरन्तर गतिमान ज्ञान-पिपासा का अतृप्त साधन माना। जर्मन शब्द 'Geschichte' के अर्थ 'होना' या 'घटित होना' ने भी इतिहास-सम्बन्धी धारणा के विकास में योगदान प्रदान किया। अँगरेज़ी के कोशों के अनुसार 'हिस्ट्री' का अर्थ है : "That branch of knowledge concerned with past events, esp. those involving human affairs; a record or account usu. written and in chronological order of past events esp. those concerning a particular nation, people, field of knowledge or activity etc., esp. those concerning a specific group or subject; a systematic account of the origin and progress of a nation." 'इतिहास' के लिए अँगरेज़ी में 'history','annals','tradition','story', 'fable' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। व्यावहारिक रूप में मनुष्य की अब तक की उपलब्धियों का सार 'इतिहास' कहा जाता है। अपने में घटनाएँ 'इतिहास' नहीं, वरन् घटनाओं का रेकॉर्ड 'इतिहास' है। तात्पर्य यह है कि अनुसन्धान द्वारा उपलब्ध अतीत में घटित घटनाएँ इतिहास का मुख्य आधार हैं। दूसरे शब्दों में, अतीतकालीन घटनाओं का वस्तुपरक या आत्मपरक इतिवृत्तात्मक और क्रमबद्ध विश्लेषण एवं निरूपण इतिहास की संज्ञा प्राप्त करता रहा है। वर्तमान दूसरे ही क्षण भूत हो जाता है। इसलिए वर्तमान में घटित घटनाओं का इतिहास भी लिखा जाना सम्भव है। इतिहास के लिए अतीत की सीमा निर्धारित करना कठिन कार्य है। सामान्यतः एक पीढ़ी या पचीस वर्ष पूर्व की घटनाएँ इतिहास का विषय मानी

जाती रही हैं। किन्तु आज की वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति के फलस्वरूप अत्यन्त तीव्र गति से हो रहे परिवर्तनों के कारण एक दिन या एक घंटे पहले की घटना भी इतिहास का विषय बन सकती है। जब हम सामयिक मानव-जीवन में घटित होने वाली घटनाओं मात्र को दृष्टिपथ में रखते हैं तो हम कहते हैं— 'इतिहास का निर्माण हो रहा है।' केवल मानवीय घटनाओं के संकलन के अतिरिक्त घटनाओं के लिखित विवरण को भी 'इतिहास' कहा जाता है। इस लिखित विवरण के अन्तर्गत मानव जाति ने अब तक जो कुछ किया है, सोचा है या आकांक्षाएँ व्यक्त की हैं उस सब पर विचार किया जाता है। यह इतिहास-लेखन की वस्तुपरक पद्धति है। आत्मपरक दृष्टि से मनुष्य के चेतना-क्षेत्र में सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन, उसका निरन्तर प्रवहमान अंतरंग, इतिहास का विषय बन जाता है। यहाँ तक कि प्रकृति का निरन्तर गत्यात्मक और परिवर्तनशील रूप और उसका मानव-जीवन के साथ सम्बन्ध भी इतिहास का विषय माना जाता है। और, अब तक तो लिखित रूप में इतिहास ही इतिहास माना जाता था। लिखित रूप में इतिहास से पूर्व के जीवन को 'प्रागैतिहासिक' नाम से अभिहित किया जाता रहा है। किन्तु अब 'प्रागैतिहासिक' शब्द अनुपयुक्त माना जाता है। नृतत्व-विज्ञान और पुरातत्त्व ने मानव-जीवन के सुदूर अतीत के सम्बन्ध में जो तथ्य उद्घाटित किए हैं उन्हें भी अब 'इतिहास' शब्द के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। 'प्रागैतिहासिक' शब्द के स्थान पर 'लिखित इतिहास-पूर्व' की धारणा ने मान्यता प्राप्त कर ली है अर्थात् मानव-जीवन के सुदीर्घकालीन विकास के सम्बन्ध में नृतत्व-विज्ञान और पुरातत्त्व ने अपनी खोजों द्वारा 'प्रागैतिहासिक' शब्द को असंगत सिद्ध कर दिया है। मनुष्य ने लिखना सीखने और लिखे हुए को सुरक्षित रखना सीखने से बहुत पहले अपने अस्तित्व और विविध क्रियाकलाप के अनेक भग्नावशेष छोड़े हैं जिनसे हमारे विचारों को उत्तेजना प्राप्त होती है। पैलिओलिथ या एओलिथ (Eolith) काल के भग्नावशेषों, अथवा अन्धकारपूर्ण प्राचीन गुफाओं में बने चित्रों, अथवा जानवरों की हड्डियों पर बने चित्रों को मानव-इतिहास लिखते समय कैसे भुलाया जा सकता है। वास्तव में इतिहास यहीं से शुरू होता है।

यह तो सर्वविदित है कि मानव जाति का इतिहास मानसिक और भौतिक या स्थूल घटना-बहुल रहा है और प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना के फलस्वरूप उसने एक युग से दूसरे युग में पदार्पण किया है। तपःपूत साधना द्वारा उसने विविध निधियाँ अर्जित की हैं। अपनी उपलब्धियों द्वारा उसने अपना जीवन सुखी एवं समृद्ध बनाया है। इस प्रकार की आध्यात्मिक, मानसिक और भौतिक उपलब्धियों की समष्टिगत संज्ञा 'संस्कृति' है। 'संस्कृति' मानव-जीवन रूपी पुष्प की सुगन्धि है। किन्तु काल-विधाता के दुर्दम और अमोघ चक्र की निर्बाध गति के अनुसार परिवर्तन की तीव्र प्रक्रिया के फलस्वरूप मानव जाति की अनेक निधियाँ और

उपलब्धियाँ विस्मृति के गर्त में विलीन होती गई हैं अथवा भू-गर्भ में स्थित हैं। इसीलिए पृथ्वी को 'रत्नगर्भा' कहा गया है। मानव-संस्कृति के अनेक अनमोल रत्न उसमें दबे पड़े हैं। मनुष्य को अपने पूर्वजों के सांस्कृतिक भग्नावशेष प्राप्त होते जा रहे हैं और जिस रूप में तथा जिस परिमाण में वे प्राप्त होते जा रहे हैं उतना ही अधिक मानव जाति का इतिहास प्रकाश में आता जा रहा है। प्राचीन भग्नावशेष इतिहास के आधार बन गए हैं। जितनी अधिक ऐसी सामग्री उपलब्ध होगी, विगत युगों का उतना ही अधिक स्पष्ट चित्र निर्मित होता जाएगा। जीवन की बहुमुखी व्यापकता तो सर्वमान्य है। उस व्यापकता के अनुरूप सामग्री भी होनी चाहिए। सामग्री के अनुपात में ही अतीत की रूपरेखा सुसाध्य होगी। आज के वैज्ञानिक युग में पुरातत्त्ववेत्ताओं ने प्राचीन सामग्री खोजने, प्राप्त सामग्री का परीक्षण और विश्लेषण कर उसे सुरक्षित रखने के अनेक वैज्ञानिक साधन खोज निकाले हैं जिनके फलस्वरूप इतिहास-लेखकों का कार्य सरल होता जा रहा है। पर्याप्त साधनों के उपलब्ध होते हुए भी उसमें कल्पना का मिश्रण भी हुए बिना नहीं रहता। उत्खनन के फलस्वरूप निकले नगरों, मन्दिरों, भवनों, मूर्तियों, मृण्मूर्तियों, हथियारों, औज़ारों, अस्थियों आदि के सम्बन्ध में उपलब्ध निष्कर्ष कल्पनामिश्रित हुए बिना हमारे सामने नहीं आते। इसीलिए कुछ विद्वानों के मतानुसार अतीत के इतिहास का पूर्णतः प्रामाणिक होना सन्देहपूर्ण है। उसमें पूर्णता लाना भी असाध्य है। कुछ-न-कुछ अभाव उसमें अवश्य रह जाता है। तो भी सामग्री की प्रचुरता और प्रामाणिकता के आधार पर, साथ ही कल्पना को संयत रखते हुए, इतिहास को अधिकाधिक प्रामाणिक और पूर्ण बनाया जाना असम्भव नहीं है। अनुभव, ज्ञान और तर्क द्वारा इतिहास ग्राह्य सिद्ध होता है। शर्त केवल इतनी है कि सामग्री प्रचुर हो, उसका परीक्षण-विश्लेषण वैज्ञानिक हो, कल्पना की मुक्त उड़ान न हो और तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक परम्पराओं का अच्छा ज्ञान हो। इतिहास में न तो विज्ञान जैसी प्रामाणिकता उत्पन्न की जा सकती है, और न कल्पनामिश्रित दार्शनिकता और साहित्यिकता।

इतिहास-प्रणयन की आधारभूत सामग्री अलिखित और लिखित दोनों रूपों में उपलब्ध होती है। प्राचीन पर्वत-कन्दराओं में उपलब्ध सामग्री, खण्डहरों, हथियारों, औज़ारों, भवनों की ईंटों, मिट्टी के पात्रों, आभूषणों, अन्न के दानों, प्रस्तर और मृण्मूर्तियों, अस्थियों के भग्नावशेषों, भित्तिचित्रों, सिक्कों आदि, यहाँ तक कि मौखिक रूप से चली आ रहीं जलंधरी कथाओं, अनुश्रुतियों या जनश्रुतियों, के आधार पर पुरातन जीवन का पुनरुद्धार करने की चेष्टा कर मनुष्य अपनी प्रगति का लेखा-जोखा करता आया है। यह अलिखित सामग्री इतिहास-लेखन का अविभाज्य अंग बन गई है और अनुदिन बनती जा रही है। उससे हमारे ऐतिहासिक ज्ञान की अभिवृद्धि हुई है और कार्य-क्षेत्र एवं प्रणाली को विस्तार

प्राप्त हुआ है। मुद्रण-कला के प्रचार एवं प्रसार के फलस्वरूप और पेपीरस, ताम्रपत्रों और काग़ज़ के आविष्कार की सहायता से लिखित सामग्री गद्य और पद्य दोनों रूपों में मिलती है और मुद्रित ग्रन्थ भी इतिहास जानने के प्रमुख साधन माने जाते हैं। ग्रन्थों, पट्टे-परवानों, दानपत्रों, शिलालेखों, प्रशस्तियों आदि की उपलब्धि काग़ज़ जैसी पतली चीज़ के आविष्कार से सम्भव हो सकी। निस्सन्देह मानव-ज्ञान-कोष को सुरक्षित रखने में काग़ज़ का सबसे अधिक महत्वपूर्ण योगदान रहा है। एक समय वह भी था जब लिपि का या लेखन-कला का विकास नहीं हुआ था और मनुष्य पर्वत-कन्दराओं, शिलाओं, भित्तिचित्रों आदि द्वारा अपने विचार व्यक्त करता था। संसार में इस प्रकार के न जाने कितने पत्थर, मन्दिर, गिरजे, शिलाएँ, स्तम्भ आदि भरे पड़े हैं जिनसे बिना लिपिबद्ध हुए मानव जाति का इतिहास खोजा जा रहा है। खपड़ों, पत्थरों, छालों और कपड़ों पर मिले लेख भी इस दृष्टि से सहायक सिद्ध हुए हैं। यातायात के साधनों के सुलभ हो जाने और उपलब्ध सामग्री के परीक्षण-विश्लेषण की वैज्ञानिक विधि का विकास हो जाने के कारण आज हम अपने ऐतिहासिक ज्ञान को सजीव भाषा में गुम्फित करने में समर्थ हो सके हैं। अतीत को साकार बनाने में अलिखित-लिखित सामग्री के अतिरिक्त मनुष्य के व्यक्तिगत दृष्टिबिन्दु और कल्पना का योग रहता ही है। नए-नए अनुसन्धानों के फलस्वरूप पिछले ऐतिहासिक निष्कर्षों में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। इतिहास का संस्कार होते रहना मनुष्य के बढ़ते हुए ज्ञान का परिचायक है। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान में रखने की है कि प्रत्येक युग अपने प्रश्न उठाता है और इतिहास में वह उनका समाधान खोजता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि इतिहासकार प्राचीन इतिहास लिखते समय अपने युग का ही इतिहास लिखता है और इस प्रकार इतिहास वस्तुपरक न होकर आत्मपरक होता है, क्योंकि प्रत्येक युग, समाज और व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिबिन्दु से इतिहास के दर्शन करता है। इतना सब कुछ होते हुए भी सामग्री का अन्वेषण, निरीक्षण, कालक्रम और परिस्थितियों पर विचार करने के लिए वैज्ञानिक तटस्थता, सतर्कता, संयम और घटनाओं की बारीकी से छानबीन करना अत्यन्त आवश्यक है। मनमाने ढंग से निष्कर्ष निकालना इतिहासकार के लिए अक्षम्य दोष है। उसे अपनी बुद्धि, तर्क-प्रणाली, प्रामाणिक सामग्री आदि का उपयोग कर अपने निष्कर्षों को सारपूर्ण बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। अपनी तरफ़ से जोड़-घटाकर इतिहास का निर्माण न कर उसे इतिहास को यथावत् प्रस्तुत करने की चेष्टा करनी चाहिए। किसी विशेष मत या आन्दोलन की ज़बरदस्ती स्थापना करना कठमुल्लापन है। ऐसा करने से इतिहास का महत्व नष्ट हो जाता है। सम्प्रति इतिहास की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ हो गई हैं और उन शाखा-प्रशाखाओं के अपने-अपने विशेषज्ञ हैं।

मनुष्य के जीवन की बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था, ये तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं। एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक पहुँचने का तात्पर्य यह है कि वह अपने जीवन का इतिहास बनता जाता है। इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि उसके जन्मकालोपरान्त प्रत्येक विगत क्षण उसके जीवन के इतिहास की एक-एक सीढ़ी बनाता जाता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अतीत होता है और वह अतीत में प्राप्त अपने अनुभव से वर्तमान को सुधारने या उसे नई दिशा प्रदान करने की चेष्टा करता है। व्यक्ति की भाँति समाज, राष्ट्र या समूची मानव जाति अपने अतीत की ओर शुतुर्मुर्ग की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर नहीं, वरन् अपने वर्तमान का वास्तविक स्वरूप समझने की दृष्टि से प्रेरित होती है। जिन परिवर्तनों से वह गुज़री है उन परिवर्तनों का वह सोद्देश्य अध्ययन करती है। वर्तमान का यथासाध्य ठीक-ठीक परिचय प्राप्त करने के लिए अतीत को समझना अत्यन्त आवश्यक है। यूरोपीय या भारतीय संस्कृतियों के गुण-दोषों, प्रचलित मान्यताओं, आचरण-संहिताओं आदि का अध्ययन करने के लिए उनकी युग-युगान्तर में विस्तृत विकास एवं परिवर्तन-प्रक्रिया का समझ लेना ही निर्णायक सिद्ध होगा। उदाहरणार्थ, भारतीय वर्ण-व्यवस्था के ऐतिहासिक विकास-क्रम का अध्ययन किए बिना इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता। वर्तमान को समझने की दृष्टि से नहीं, भविष्य को एक विशेष दिशा की ओर मोड़ने के लिए भी अतीत की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतीत को नकारना अपने अस्तित्व को नकारना है। इतिहास कुछ सिखाता है और मनुष्य अपने अतीत से ही सीखता है। महादेव गोविन्द रानाडे की भाषा का प्रयोग करते हुए यह कहना समीचीन होगा कि स्लेट पर जो कुछ लिखा है उसे एकदम मिटा डालने से काम नहीं चलता। उसमें युगानुकूल परिवर्तन-परिवर्द्धन-संशोधन की आवश्यकता पड़ती है। यह कार्य मनुष्य के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के बिना सम्भव नहीं।

•

## २. इतिहास-लेखन : भारतवर्ष

संसार के प्रत्येक देश की अपनी-अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार इतिहास-लेखन-प्रणाली मिलती है। यद्यपि आधुनिक अर्थ में इतिहास-लेखन-प्रणाली ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी की देन है, तो भी मनुष्य ने जब से बोलना और बोले हुए को अथवा मन में उठे भावों और विचारों को लिपिबद्ध करना सीखा तब से इतिहास के अस्तित्व का पता चलता है। अपने विचारों को लिपिबद्ध करने से पूर्व मनुष्य ने अपना अतीत मौखिक रूप से चलती आ रही परम्पराओं के रूप में सुरक्षित रखा था। अनेक शताब्दियों तक प्राचीन कथाएँ मौखिक रूप में प्रचलित रहीं। उनमें से कुछ कथाएँ लिपिबद्ध कर ली गईं, और कुछ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गईं। भारत, मिश्र, बेबीलोन, असीरिया, मेसोपोटामिया आदि से प्राप्त इस प्रकार की परम्पराएँ मिलती हैं जो न केवल अधिकांशतः चमत्कारपूर्ण कथाओं, दैवसंयोग से घटित घटनाओं और जातीय वीरों के शौर्यपूर्ण कृत्यों के वर्णनों के रूप में हैं, वरन् जिनसे मिश्र, बेबीलोन, असीरिया की कला, लेखन-प्रणाली, स्थापत्य-कला आदि का भी परिचय प्राप्त होता है। मिश्र को तो विद्वानों ने 'a vast historical volume' कहा है। यह सामग्री ईसवी सन् से कई हज़ार वर्ष पूर्व की मानी जाती है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ईसा से तीन शताब्दी पूर्व यूरोप में मिश्र, बेबीलोन और यहूदियों के जो ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध होते हैं उनमें से ईसा से नौ सौ वर्ष पूर्व उपलब्ध 'The Jahrist sections of the Pentateuch, Joshua and Samuel' को वे संसार की प्राचीनतम ऐतिहासिक रचना मानते हैं। किन्तु इन रचनाओं का उद्देश्य उपदेशात्मक और उपयोगितावादी है और उनमें प्रामाणिकता का अभाव है। उनमें मनुष्य को ईश्वरीय मार्ग बताने और सदाचार पर बल दिया गया है। वास्तव में यूरोपीय विद्वानों ने जिस पाश्चात्य ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का उल्लेख किया लगभग वही परिप्रेक्ष्य भारत तथा एशिया के अन्य देशों में मिलता है। वह भी लिखित-अलिखित दोनों रूपों में है। भारत के अतिरिक्त चीन, जापान, बर्मा, अरब आदि देशों की अपनी-अपनी परम्पराएँ रहीं। इनमें से इतिहास-लेखन की अरब परम्परा अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस सम्बन्ध में तबारी (Tabari, ८३८-९२३) और

अल्-मसूदी (६५६ के लगभग) के नामों का उल्लेख इस्लाम धर्म की विजय के सन्दर्भ में किया जाता है। किन्तु इब्न-खल्दुन (१३३२-१४०६) को अरब का सर्वाधिक महत्वपूर्ण इतिहास-लेखक माना जाता है। उसने इतिहास को तार्किक प्रणाली और नैरन्तर्य प्रदान किया। ईसाइयों की इतिहास-लेखन-प्रणाली के विपरीत इब्न-ख़ल्दुन ने बताया कि जीवाणु की भाँति ऐतिहासिक विकास भी परिवर्तनशील है और मनोवैज्ञानिक तथा चारों ओर के वातावरण के फलस्वरूप भी ऐतिहासिक परिवर्तन-क्रिया सक्रिय होती है। वह यूरोप के वीको (Vico) और टर्गॉट (Turgot) का अग्रगामी इतिहास-लेखक था।

भारतीय इतिहास से सम्बन्धित प्राचीनतम सामग्री पाकिस्तान-स्थित मोहेन-जोदड़ो तथा हड़प्पा में और भारतवर्ष में रोपड़, समथर आदि स्थलों में उपलब्ध वैसी ही सामग्री के भग्नावशेषों के रूप में मिली है और सौराष्ट्र में मिलती जा रही है जिससे आर्यागमन से पूर्व की भारतीय संस्कृति एवं इतिहास पर प्रकाश पड़ रहा है। आर्यों से सम्बन्धित अनेक ऐतिहासिक प्रमाण संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ 'वेदों' में भी मिलते हैं। किन्तु अभी तक प्रागैतिहासिक भारत का प्रामाणिक इतिहास तैयार नहीं हो पाया। स्टुअर्ट पीगोट (Stuart Piggot) कृत 'प्रीहिस्टोरिक इण्डिया' (१९५०) जैसी कुछ पुस्तकें उपलब्ध अवश्य हैं, किन्तु प्रागैतिहासिक भारत से सम्बन्धित ज्ञान की काफ़ी प्रगति हो चुकी है और आधुनिकतम ज्ञान और उपलब्ध सामग्री के आधार पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ की अत्यन्त आवश्यकता है। भारतवर्ष में इतिहास और प्राक्-इतिहास में अन्तर करना कठिन है। हेनरी बेर (Berr) ने कहा है कि भारतवर्ष में घटनाएँ तो हैं, इतिहास नहीं है। इस कथन में बहुत अधिक सत्य का अंश तो नहीं है, तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि भारत में कालक्रमानुसार सुव्यवस्थित रूप में लिखा गया इतिहास कम मिलता है। हमारे यहाँ मौखिक रूप में चली आ रहीं अनेक कथाएँ मिलती हैं जिनसे इतिहास-लेखन में कुछ-न-कुछ सहायता अवश्य प्राप्त होती है। यूरोप, भारतवर्ष तथा एशियाई देशों में इतिहास-विधा के विकास के पूर्व मनुष्य का तत्त्वज्ञान ही नहीं, अपितु व्यवहार भी अधिकांशतः कोरी अनुभवशून्य कल्पना पर आश्रित रहता था। इस सामग्री के वैज्ञानिक परीक्षण-विश्लेषण की आवश्यकता है। जहाँ तक भारतवर्ष से सम्बन्ध है, हमारे यहाँ इतिहास के सम्बन्ध में एक विशेष धारणा का प्रचार था। देश-काल अनन्त है, भौतिक जीवन क्षणभंगुर है, पार्थिव शरीर नश्वर है, इस दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रेरित होकर कालक्रमानुसार, वैज्ञानिक, तथ्यपरक, प्रामाणिकता को ध्यान में रखते हुए इतिहास-लेखन की ओर हमारे पूर्वजों का ध्यान एक प्रकार से गया ही नहीं। उन्होंने सांस्कृतिक और धार्मिक विकास या ह्रास के युगों के कुछ मूल तत्त्व एकत्र कर और विचारों तथा भावनाओं के प्रवर्तकों और प्रतीकों का सांकेतिक उल्लेख कर सन्तोष धारण कर

लिया है। उस पर भी इस भारतीय इतिहास की झलकियाँ काव्य-रूप में अतिरंजनापूर्ण वर्णनों द्वारा मिलती हैं जिनसे सार-तत्त्व ग्रहण करना कठिन हो जाता है। यदि ऐसी बात न होती तो, उदाहरणार्थ, कवि चन्द बरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' (ईसा की बारहवीं शताब्दी ?) एक सुन्दर काव्य-कृति के साथ-साथ इतिहास लिखने में सहायक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी सिद्ध होता। भारतीय इतिहास-लेखन-परम्परा में इतिहास, मौखिक परम्पराओं और जनश्रुतियों का इतना अद्भुत सम्मिश्रण मिलता है कि उन्हें सुलझाना या उनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता सिद्ध करना दुस्तर कार्य हो जाता है। वैज्ञानिक ढंग से किए वर्तमान ऐतिहासिक अनुसन्धानों के फलस्वरूप इस दिशा में कुछ सहायता अवश्य मिल रही है और अनेक गुत्थियाँ सुलझती जा रही हैं, तो भी अभी अनेक उलझनें हैं। भारतीय पुराण-साहित्य, उदाहरणार्थ, प्रतीकात्मक भाषा में लिखा गया 'इतिहास' ही है। पुराण के लक्षण ही इस प्रकार माने गए हैं :

**सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च।**
**वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।** (विष्णु पुराण)

और कुछ विद्वान पुराणों में उल्लिखित तथ्यों का वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा अध्ययन कर प्राचीन भारतीय इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयास कर रहे हैं। किन्तु यह मार्ग है कंटकाकीर्ण। भारतीय इतिहास की इन्हीं उलझनों को दृष्टि-पथ में रखते हुए एल्फ़िन्स्टन नामक पाश्चात्य इतिहास-लेखक ने १८३९ ई० में कहा था : "No date of public event can be fixed before the invasion of Alexander; and no connected relation of the national transactions can be attempted until after the Mahometan conquest." भारतीय इतिहास के यूरोपीय लेखकों के कान में एल्फ़िन्स्टन के ये शब्द बराबर गूँजते रहते थे और बहुत दिनों तक उनका यह विश्वास बना रहा कि "It is only at those points where other nations came into contact with the Hindus that we are able to settle any details accurately." गेटे ने भी कहा था : "Chinese, Indian and Egyptian antiquities are never more than curiosities." यूरोपीय विद्वानों के ये तथा ऐसे ही अन्य अनेक कथन अतिरंजनापूर्ण अवश्य हैं, किन्तु उनमें सत्य का अंश भी है। उन्नीसवीं शताब्दी तथा उसके बाद के अध्ययनों के फलस्वरूप अतीत के अन्धकार में लुप्त प्राचीन भारतीय इतिहास अब प्रकाश में आता जा रहा है। ऐसी सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो चुकी है और होती जा रही है जिससे प्राचीन भारतीय इतिहास की अनेक टूटी शृंखलाएँ जोड़ी जा सकती हैं और उन्हें क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। हाल ही में रामायण काल और महाभारत काल की

सामग्री भी प्रकाश में आई है। हो सकता है एक दिन ऐसा आए जब यूरोपीय विद्वानों के ऊपर जैसे कथन निराधार सिद्ध हो जाएँ। वास्तव में भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिए आर्य और आर्येतर सभी जातियों का सम्मिलित इतिहास जानना और समझना ज़रूरी है। भारतवर्ष के इस इतिहास के लिए (१) वेदों-पुराणों, रामायण, महाभारत, जैन-बौद्ध साहित्य, फ़ारसी ग्रन्थों, हिन्दी की विभिन्न रचनाओं के वैज्ञानिक अध्ययन, (२) लोक साहित्य में सुरक्षित परम्पराओं के वैज्ञानिक अध्ययन, (३) फ़ाहियान, मेगास्थनीज़, अल-बरूनी आदि जैसे विदेशी यात्रियों और राजदूतों द्वारा प्रस्तुत विवरणों के अध्ययन, (४) पुरातत्त्व विभाग द्वारा किए गए उत्खननों के फलस्वरूप प्राप्त सामग्री (इमारतों, शिलालेखों, मृण्मूर्तियों, सिक्कों, आभूषणों, अस्त्र-शस्त्रों, औज़ारों, अस्थियों आदि के रूप में), और (५) भूगर्भविद्याविशारदों द्वारा किए गए अध्ययनों द्वारा अच्छी सहायता प्राप्त हो सकती है।

वास्तव में प्राचीन भारतवर्ष में इतिहास का वही अर्थ ग्रहण नहीं किया गया जो पाश्चात्य विद्वानों ने ग्रहण किया। यूरोपीय पद्धति के अनुसार लिखित इतिहास का संस्कृत में अभाव है। भारतवर्ष में घटनाओं और तिथि-क्रम को उतना महत्व नहीं दिया गया जितना एक आदर्श व्यक्ति के आदर्श क्रियाकलाप को। राम, कृष्ण, वाल्मीकि, व्यास, गौतम बुद्ध, कालिदास, तुलसी, सूर आदि ऐसे ही आदर्श व्यक्ति थे जिनके जीवन की प्रामाणिक घटनाएँ और तिथियाँ आज अनुपलब्ध हैं। किन्तु उनके व्यक्तित्व हमारे साहित्य में मुखरित होकर जीवन को शक्ति, प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान करने वाले हैं। बाह्य, स्थूल, पार्थिव, नश्वर बातों पर बल न दिया जाकर, हमारे देश में आन्तरिक सौन्दर्य और आत्मिक बल पर अधिक ज़ोर दिया गया है। चरित्र को ही हमारे यहाँ मानवता की कसौटी माना गया है।

तब भी भारतवर्ष में तिथि-क्रम-युक्त इतिहास का नितान्त अभाव रहा हो, ऐसी बात नहीं है। अशोक-कालीन शिलालेख और अभिलेख इसके प्रमाण हैं। गुप्त काल ने इस प्रकार की सामग्री प्रचुर मात्रा में प्रदान की है। गिरिनार, हरिषेण, मन्दसोर आदि के शिलालेख और प्रशस्तियाँ इतिहास-लेखन में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई हैं। रामायण, महाभारत में व्यक्तित्व पर अवश्य बल दिया गया है, किन्तु पुराणों को इतिहास की कोटि में रखा जा सकता है, क्योंकि पीछे उद्धृत पुराण-लक्षणों के अनुसार उनसे राजाओं की वंशावलियाँ प्राप्त होती हैं। फिर, अश्वघोष कृत 'बुद्धचरित', बाणभट्ट कृत 'हर्षचरित', वाक्पति राज (७३०ई० के लगभग) कृत 'गउडवहो' ('गौडवध', महाराष्ट्री प्राकृत में), बिल्हण कृत 'विक्रमांकदेवचरितम्', कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' (ईसा की ११-१२वीं शताब्दी) आदि ग्रन्थों में प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री का प्राचुर्य है। कल्हण का स्थान तो अत्यन्त आदरपूर्ण माना जाता है, क्योंकि इतिहास-लेखक के रूप में उन्होंने

अपने उत्तरदायित्व का पूर्णरूपेण निर्वाह किया है। उनके तथ्य-विश्लेषण में वैज्ञानिक तटस्थता है और उन्होंने विभिन्न राजाओं के गुणों और अवगुणों दोनों का निस्संकोच रूप में वर्णन किया है। महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों में हेमचन्द्र कृत 'कुमारपाल चरित' (ईसा की ११-१२वीं शताब्दी), चन्द बरदाई कृत 'पृथ्वीराजरासो' (ईसा की बारहवीं शताब्दी ?), जल्हण कृत 'सोमपाल विजय' (ईसा की १२वीं शताब्दी), जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय' (ईसा की १२वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध), मेरुतुंग कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' (ईसा की १४वीं शताब्दी) आदि अन्य ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं जिनसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है। इन ग्रन्थों को काव्य-ग्रन्थ मानने के साथ-साथ ऐतिहासिक ग्रन्थ भी माना जा सकता है। काव्य-शैली का विकास स्वयं पुराण-साहित्य में ही हो चुका था। प्रारम्भिक सातवाहन युग के बौद्ध संस्कृत वाङ्मय के अवदान सरल ऐतिहासिक कहानियों के रूप में ग्रहण किए जा सकते हैं।

संसार के प्राचीनतम ग्रन्थों, वेदों, के बाद ऐतिहासिक दृष्टि से महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित 'रामायण' और कृष्णद्वैपायन व्यास, वैशंपायन और सौति कृत 'भारत' और फिर 'महाभारत' का अत्यन्त महत्व है। ये दोनों ग्रन्थ इतिहास हैं। महाभारत में अनेक ऐतिहासिक आख्यानों का संग्रह है अर्थात् इस ग्रन्थ से हमें प्राचीन भारत की धर्म-नीति, ज्ञान-विज्ञान तथा अनेक ऐतिहासिक बातों का पता चलता है। यह तथ्य वेबर, मेक्डानेल्ड, हॉफ़मैन, तिलक आदि पाश्चात्य एवं प्राच्य विद्वानों ने स्वीकार किया है। इसी सन्दर्भ में 'इतिहास' और 'पुराणों' का उल्लेख किया जाता है। 'इतिहास' में प्रत्यक्ष घटित बातें होती होंगी और 'पुराणों' में दन्तकथाएँ और राजवंश। वेदों और उपनिषदों का अध्ययन करना ब्राह्मणों का काम था, तो इतिहास और पुराण पढ़ना सूतों का काम था। महाभारत में पुराण, आख्यान, उपाख्यान, गाथा और इतिहास शब्द आते हैं—यद्यपि सर्वाधिक प्रयोग पुराण, इतिहास और आख्यान का हुआ है। वैसे भारतीय परम्परागत ऐतिहासिक सामग्री के सर्वोत्तम उदाहरण 'पुराण' हैं, यह सभी देशी-विदेशी विद्वानों को मान्य है। 'पुराण' का अर्थ है—'प्राचीन', 'पुरातन', 'प्राचीन काल की कोई घटना', 'अतीत काल की कथा'। 'पुराण पुरुष' या 'पुरुष पुरातन' विष्णु का नामान्तर भी है। अर्थ को ध्यान में रखते हुए 'पुराण' से आशय उस ग्रन्थ से है जिसमें प्राचीन आख्यायिकाएँ, वंशावलियाँ आदि दी गई हों (दे० 'पुराण' के पाँच लक्षण)। ब्राह्मणों, उपनिषदों और बौद्ध ग्रन्थों में यह शब्द एक प्रकार से 'इतिहास' का पर्यायवाची शब्द ही माना गया है। 'पुराण' शब्द के साथ 'इतिहास' शब्द भी जुड़ा हुआ मिलता है—'पुराण-इतिहास'। विद्वानों का अनुमान है कि पुराणों (१८) में कहीं-कहीं पूर्व-वैदिक काल का इतिहास तक पाया जाता है। महाभारत की रचना से पहले

'पुराण' नाम के कुछ ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। पहले जिन 'पुराण' ग्रन्थों को अप्रामाणिक माना जाता था, उन्हें अब इतिहास-अनुरागी इतिहास-लेखन के लिए अमूल्य निधि मानते हैं। समय-समय पर उनमें अनर्गल बातें अवश्य जोड़ दी गई, किन्तु तो भी उनमें प्राचीन भारत से सम्बन्धित अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है। उनका मूल रूप काफ़ी प्राचीन है और उनकी गणना अब 'इतिहास' की कोटि में की जाने लगी है और वे इतिहास-लेखकों के लिए सहायक सिद्ध हो रहे हैं। विष्णु पुराण से लिया गया और पीछे उद्धृत 'पुराण' के पाँच लक्षणों में सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय और फिर सृष्टि का प्रादुर्भाव, देवताओं और ऋषियों की वंशावली का वर्णन माना गया है। पुराणों का धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, भौगोलिक आदि महत्व तो है ही, साथ ही उनका ऐतिहासिक महत्व भी है। परीक्षित से लेकर पद्मनन्द तक का इतिहास, मौर्य वंशावली (विष्णु पुराण), आन्ध्र वंशावली (मत्स्य पुराण), गुप्त वंशावली (वायु पुराण) आदि के प्रामाणिक उल्लेख पुराणों में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त आभीर, शक, हूण, गुर्जर, गर्दभ, यवन, तुषार आदि जातियों के संक्षिप्त उल्लेख पुराणों में सुरक्षित हैं। 'कल्कि पुराण' से बौद्धों, जैनियों और वैदिक धर्मावलंबियों के पारस्परिक सामाजिक एवं धार्मिक संघर्ष का पता चलता है। अठारह प्रधान पुराण और अठारह उपपुराण हैं जिनमें अनेक ऐतिहासिक, धार्मिक और सामाजिक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं।

अथर्ववेद (१५-६-८-११) में इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी का उल्लेख मिलता है। वेदों में प्राचीन एवं शाश्वत इतिहास, पुराणों में पुरावृत्त, गाथाओं में वास्तविक या काल्पनिक प्राचीन नैतिक कथाएँ (इन्द्र-वृत्रासुर कथा, पुरुरवा-उर्वशी कथा, अगस्त्य-लोपामुद्रा कथा आदि) और नाराशंसी में व्यक्ति-पूजा या वीरगाथा (रामायण, महाभारत आदि) विषय माने गए हैं। इन चारों शब्दों में से 'इतिहास' और 'पुराण' इन दो शब्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है। विस्तारपूर्वक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु संस्कृत ग्रन्थों में श्रुति, स्मृति और इतिहास, इन तीन शब्दों का काफ़ी प्रयोग हुआ है। कौटिल्य कृत 'अर्थशास्त्र' (१/३) के अनुसार इतिहास पंचम वेद है और 'इतिहास' में पुराण और इतिहास दोनों ही शामिल हैं। उन्होंने 'इतिहास' शब्द का व्यापक प्रयोग कर अन्य सबका इसी में अन्तर्भाव मान लिया—"**पुराणमिति वृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहास**" (१-५)। "**आर्यादि बहुव्याख्यानं देवर्षि चरिताश्रयम्। इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुद् धर्मयुक:**" कह कर भी हमारे यहाँ इतिहास का महत्व प्रतिपादित किया है। अथवा, महाभारत में 'इतिहास' का महत्व स्थापित करते हुए कहा गया है :

**धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेश समन्वितम्।**
**पूर्ववृत्तकथायुक्तमितितिहासं प्रचक्षते॥**

अथवा, महाभारत (१/१/८३) के ही अनुसार—

**इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना।**
**लोक गर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् संप्रकाशितम् ।।**

पुराणों के रचयिताओं ने 'पुराण' शब्द स्वीकार किया। कालान्तर में 'इतिहास' और 'पुराण' शब्द अलग-अलग माने जाने लगे। वैसे छान्दोग्य उपनिषद् (७-४) में 'इतिहास' और 'पुराण' समन्वित शब्द के रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं। वास्तव में छान्दोग्य (७-४) उपनिषद् में कहा गया है—**"ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पंचमो वेदानां वेदः।"**

तो 'पुराण' और 'इतिहास' का यह परस्पर परिवर्तनीय प्रयोग भारतीय इतिहास के मध्य युग तक प्रचलित था और वह मानवीय चिन्तन, लोक-कल्याण और पुरुषार्थ का समन्वित साधन माना गया। अकेले 'इतिहास' (इति + ह + आस) शब्द का प्रयोग 'पूर्व वृत्तान्त' के रूप में हुआ है। उदाहरणार्थ, आदि कवि, वाल्मीकि, द्वारा सब कवियों की काव्य-रचना से पूर्व प्रणीत आर्ष ग्रन्थ 'रामायण' के युद्ध काण्ड में 'इतिहास' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है :—

**इममार्षं स्तवं नित्यमितिहासं पुरातनम्।**
**ये नराः कीर्तयिष्यन्ति नास्ति तेषांपराभवः ।।**

—१२०-३३

अथवा

**स्त्रियो रजस्वलाः श्रुत्वा पुत्रान्सूयुरनुत्तमान्।**
**पूज्यंश्च पठंश्चेममितिहासं पुरातनम् ।।**

—१३१-११३

'रामायण' को 'इतिहास' के साथ-साथ 'आख्यान' भी कहा गया है :—

**आयुष्यमारोग्यकरं यशस्यं**
**सौभ्रातृकं बुद्धिकरं शुभं च।**
**श्रोतव्यमेतन्नियमेन सद्भिः**
**आख्यानमोजस्करमृद्धिकामैः।।**

—१३१-११८

तुलसी कृत 'मानस' के अयोध्या काण्ड में सन्तप्त महाराज दशरथ को कौसल्या के सामने जब श्रवणकुमार के पिता के शाप की याद आ गई तो :—

**भयउ बिकल बरनत इतिहासा।**
**राम रहित धिग जीवन आसा ।।**

इसी प्रसंग में दुःखी नर-नारियों को देख कर :—

**तब बसिष्ठ मुनि समय सम, कहि अनेक इतिहास।**
**सोक नेवारउ सबहि कर, निज बिग्यान प्रकास।।**

सुन्दर काण्ड में सीता की सुधि लेकर वापिस आने पर अंगदादि अन्य वानर-रिक्ष आदि :—

**चले हरषि रघुनायक पासा।**
**पूछत कहत नवल इतिहासा।।**

'इतिहास' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग 'मानस' में अनेक स्थलों पर हुआ है। इस अर्थ में वह बहुप्रचलित प्रयोग था। कहने का तात्पर्य यह है कि ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व भारतवर्ष में 'इतिहास' अधिकांशतः पुराणों के रूप में था और 'इतिहास' शब्द का प्रयोग विगत काल की घटनाओं या आख्यान के लिए होता था। संक्षेप में, भारतवर्ष की अपने ढंग की इतिहास-लेखन-पद्धति थी अवश्य, किन्तु उस समय जो सामग्री थी वह स्वल्प थी, कल्पनामिश्रित थी और सीमित साधन रहने के कारण वह वैज्ञानिक ढंग से परीक्षित और तर्क-प्रतिष्ठित नहीं थी। वह सम्भवतः इतिहास-लेखन का प्रारम्भिक काल था। ज्यों-ज्यों मनुष्य का ज्ञान बढ़ता गया है और उसे जाँच-पड़ताल के नए-नए वैज्ञानिक साधन उपलब्ध होते गए हैं, त्यों-त्यों ऐतिहासिक ज्ञान और इतिहास का क्षेत्र व्यापक होता गया है। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत ने जो प्रश्न उठाए, उनका समाधान उसने अपने ढंग के इतिहास में खोजा, क्योंकि प्रत्येक युग, समाज और व्यक्ति इतिहास को अपने प्रश्नों के समाधान की दृष्टि से देखता है। भारतवर्ष ने कालक्रम के स्थान पर अपना सांस्कृतिक और धार्मिक विकास या ह्रास युग के कुछ मूल तत्त्व एकत्र कर और विचारों एवं भावनाओं के प्रवर्तकों के अनुसार पुराणों की सांकेतिक तथा प्रतीकात्मक भाषा द्वारा खोजा। काव्य-तत्त्व मिल जाने से भारतीय इतिहास-लेखन-पद्धति उलझी हुई भी है।

ईसा की नवीं-दसवीं शताब्दी के बाद भारतवर्ष का इस्लामी सभ्यता और संस्कृति के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ और, विद्वानों का मत है कि, एशिया में चीनियों और चीनियों से भी अधिक इस्लाम धर्म के अनुयायियों का इतिहास-लेखन-पद्धति के विकास में विशेष योगदान रहा है। उन्हें कालक्रम का महत्व अच्छी तरह ज्ञात था। महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण (११वीं शताब्दी) के बाद अल-बेरूनी कृत 'तहक़ीक़-इ-हिन्द' (१०३० ई०) के अतिरिक्त 'बाबरनामा', 'हुमायूँ-नामा', 'आईन-इ-अकबरी', 'तुज़ुक जहाँगीरी', 'सैरुलमुताख़रीन' आदि मुसलमान इतिहासकारों द्वारा फ़ारसी में लिखे गए अनेकानेक ग्रन्थों से मध्ययुगीन

भारत के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। उनमें प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होती है जिसका आश्रय ग्रहण कर अनेक अँगरेज़ और भारतीय इतिहास-लेखकों ने असंख्य इतिहास-ग्रन्थों की रचना की है। वास्तव में मुसलमान लेखकों द्वारा निर्मित इतिहास-ग्रन्थ तिथि-क्रम, प्रामाणिकता, विस्तार आदि की दृष्टि से भारतीय इतिहास-लेखन-पद्धति का एक नया विकास प्रस्तुत करते हैं। कालक्रम के अभाव और कल्पना के मिश्रण के कारण जो गुत्थियाँ प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन-पद्धति में मिलती हैं वे फ़ारसी में लिखित इतिहास-ग्रन्थों में नहीं मिलतीं।

ईसा की १८वीं-१९वीं शताब्दी में भारत में अँगरेज़ी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप भारत के यूरोपीय शिक्षा-पद्धति में दीक्षित हो जाने के कारण इतिहास-लेखन-पद्धति आधुनिक, अनुसन्धानपूर्ण और व्यापक हो गई है। उसने उत्तरोत्तर उन्नति की है और उसकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ हो गई हैं—यद्यपि इतिहास-प्रणयन की जो पद्धतियाँ यूरोप में विकसित हुई हैं उनका भारतवर्ष में अभी अभाव है और न अभी बार्न्‌स, टॉयनबी, स्पेंग्लर जैसे चिन्तक ही हुए हैं। किन्तु जिस प्रकार भारतवर्ष में इतिहास-लेखन की वैज्ञानिक प्रणाली का जन्म ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ, उसी प्रकार यूरोप में भी आधुनिक अर्थ के अनुसार इतिहास-लेखन-पद्धति बहुत प्राचीन नहीं है। वैसे मनुष्य ने जब से लिखना और लिखे हुए को सुरक्षित रखना सीखा तभी से इतिहास-लेखन का श्रीगणेश हुआ माना जा सकता है। इसलिए यदि हम वेदों को संसार का प्राचीनतम इतिहास मानें तो कोई हानि नहीं। भले ही भारतीय मनीषियों ने बाद में संहिताओं का सम्पादन किया हो, तो भी उससे पहले वेदों की एक सुदीर्घकालीन मौखिक परम्परा चली आ रही थी। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चली आने वाली यह मौखिक परम्परा भी इतिहास-लेखन का एक अंग है जो मनुष्य द्वारा अपनी परम्पराओं को लिपिबद्ध कर सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति से अधिक प्राचीन है।

•

## ३. यूरोप में इतिहास-दर्शन

विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों के मतों का अध्ययन करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि यूरोप में इतिहास-लेखन प्रारम्भ से ही वैज्ञानिक और शोधपरक रहा हो, ऐसी बात नहीं है। वहाँ का आधुनिक इतिहास-दर्शन विकास के कई चरणों या प्रक्रमों से गुज़रा है। यूरोप में सर्वप्रथम मिश्र देश, बेबीलोन, असीरिया और यहूदियों की परम्परा से चली आ रही दैवी शक्ति से पूर्ण वीरगाथाएँ मिलती हैं जिनका प्रचार ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी तक बना रहा। ये गाथाएँ यूरोप की प्राचीनतम ऐतिहासिक रचनाएँ मानी जाती हैं। इन रचनाओं का महत्व उपदेशों और परिणामवाद की दृष्टि से है। उनमें प्रामाणिकता और वैज्ञानिक रीति से तथ्य-निरूपण खोजना वन्ध्यापुत्रवत् व्यर्थ होगा। अधिकांशतः उनमें धर्म-परायणता, सदाचार, मूर्तिपूजा-खण्डन और ईश्वर द्वारा दिए गए कर्मफलों का विस्तार मिलता है। इसे हम यूरोप की पूर्व-ग्रीक पद्धति कह सकते हैं।

यूरोप में इतिहास-लेखन का दूसरा दौर ईसा-पूर्व २००० के लगभग शुरू होता है और इसका श्रेय ग्रीक लोगों को है। इस दौर की धर्म-निरपेक्षता, तार्किकता, अन्धपरम्पराओं और अन्धविश्वासों को नकारने की प्रवृत्ति, किसी घटना का मूल कारण खोज निकालना, स्वतन्त्र रूप से अन्वेषण-विश्लेषण करना, मानव सभ्यताओं और संस्कृतियों के अतीत को बुद्धि-सम्मत रूप में प्रस्तुत करना, अर्थात् संक्षेप में, 'history' शब्द की सार्थकता सिद्ध करना, ये विशेषताएँ उसे पहले दौर से अलग करती हैं। जो ग्रीक लोग भूमध्य सागर के क्रीट, एशिया माइनर, मिश्र जैसे समीपवर्ती क्षेत्रों में बस गए थे उनका दृष्टिकोण धर्म-निरपेक्ष और तर्क-सम्मत था। इन क्षेत्रों के मूल निवासियों और ग्रीकों के प्रारम्भिक संघर्ष के बाद जो समन्वय उपस्थित हुआ उसके फलस्वरूप ग्रीक लोगों में स्वस्थ दृष्टिकोण उभरा और उन्होंने परम्परा को अधिक महत्व न देकर वस्तु-स्थिति समझने की चेष्टा की। दैव-संयोग से घटित घटनाओं में विश्वास न कर उन्होंने मूल कारण की ओर ध्यान दिया। बुद्धि की स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा उस समय हुई जब थेल्स ऑव मिलेटस (Thales of Miletus) ने ईसा-पूर्व ५८५ में पड़े ग्रहण के सम्बन्ध में अपना निर्णय दिया। वास्तव में ग्रीक लोगों ने घूम-घूम

कर सामग्री संकलित कर अपनी खोजों को नीर-क्षीर-विवेक द्वारा बुद्धि-सम्मत बनाने का प्रयास किया। इस दृष्टि से ईसा-पूर्व ५४६ में हेकाटिअस (Hecataeus) सर्वप्रथम ग्रीक इतिहासकार माना जाता है। उसने ग्रीक जाति की उत्पत्ति और विकास और उसके यायावर जीवन का उल्लेख वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत पद्धति से किया। उसकी रचना भ्रामक तथ्यों से रहित है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। तो भी परम्परा से भिन्न एक नए ढंग का प्रयास उसने अवश्य किया। उसके बाद ग्रीस में हेरोडोटस (Herodotus of Halicarnassus, ईसा-पूर्व ४८४-४२५ के लगभग) और थूसीडाइड्स (Thucidides, ईसा-पूर्व ४७१-४०१ के लगभग) जैसे इतिहास-लेखकों का आविर्भाव हुआ। हेरोडोटस को कुछ विद्वान् यूरोप में इतिहास-लेखन का जनक मानते हैं। उसने ग्रीकों और पारसीकों, पूर्व और पश्चिम, यूरोप और एशिया का पारस्परिक संघर्ष, उनकी अपनी-अपनी जीवन-पद्धतियों और संस्कृतियों के स्तर पर समझने का प्रयास किया। उसने ऐसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक संघर्षों का उल्लेख किया है जिन्होंने मानव जाति के भावी इतिहास की दिशा निर्धारित की। विद्वानों का मत है कि यद्यपि हेरोडोटस को इतिहास-लेखन का जनक समझा जाता है, तो भी थूसीडाइड्स उसकी अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक विधि, प्रमाणों और तर्कों का आश्रय ग्रहण करने वाला था। ऐथेन्स और स्पार्टा के बीच हुए पेलोपोनेशियन युद्ध का इतिहास लिखते समय इधर-उधर की अप्रासंगिक बातों के बारे में न पड़ कर उसने अपने को अपने विषय तक ही सीमित रखा। किन्तु यूरोपीय विद्वानों का मत है कि उसका दृष्टिकोण संकुचित था, क्योंकि (१) उसने इतिहास और राजनीति एवं युद्ध को एक-दूसरे का पर्याय मान लिया था, (२) उसमें वीरपूजा की भावना थी और वह किसी एक व्यक्ति में इतिहास की गतिविधि निर्धारित करने की क्षमता मानता था, (३) उसकी रचना-शैली अलंकृत है, और (४) उसने इतिहास को वर्तमान पर प्रकाश डालने वाले रूप में स्वीकार न कर भविष्य की गतिविधि निर्धारित करने वाली कला के रूप में माना, क्योंकि उसे वृत्तात्मक घटना-चक्र में विश्वास था। जो कुछ भी हो, प्रारम्भिक ग्रीक इतिहास-लेखकों में थूसीडाइड्स का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है।

ग्रीकों के अतिरिक्त रोमनों ने भी यूरोपीय इतिहास-लेखन-पद्धति को आगे बढ़ाया। पौलीबियस (Polybius, ईसा-पूर्व २०४-१२२ के लगभग) रोम का निवासी था और उसने रोमन रिपब्लिक के सम्बन्ध में लिखा। थूसीडाइड्स की भाँति उसे भी इतिहास के वृत्तात्मक घटनाचक्र में विश्वास था, किन्तु थूसीडाइड्स की अपेक्षा वह अधिक निष्पक्ष और वैज्ञानिक बताया जाता है। रोमन सिटी स्टेट्स के सम्बन्ध में उसने जो कुछ लिखा है उससे उसकी प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। उसी ने कहा था कि 'history is philosophy teaching by

experience,' जिसका समर्थन उसके परवर्ती इतिहास-लेखकों (जैसे, वाइकाउंट बोलिंग ब्रोक, १७३५ ई०) ने ईसा की १८वीं शताब्दी तक किया। पौलीबियस के बाद केटो (ई० पू० १६० के लगभग), जूलियस सीज़र (ईसा-पूर्व ५१, 'गैलिक वॉर'), लीवी (Livy, ईसा-पूर्व ५९ से १७), टैसीटस (Tacitus, लीवी के लगभग १०० वर्ष बाद, 'ऐनल्स' नामक रचना) आदि अन्य अनेक इतिहास-लेखक हुए जिन्होंने रोमन रिपब्लिक और रोमन साम्राज्य के उत्थान-पतन, उनकी ह्रासोन्मुख गतिविधियों, ईसाई धर्म-प्रचार आदि का वर्णन प्रामाणिक अथवा कल्पना-मिश्रित रूप में किया। टैसीटस ने नैतिकतावादी दृष्टिकोण ग्रहण किया। वह इतिहास द्वारा उच्चपदस्थ व्यक्तियों के भ्रष्ट एवं निकृष्ट जीवन का पर्दाफ़ाश कर युगीन जीवन को निष्कलंक बनाने में इतिहास की सार्थकता समझता था। उसने ईसाइयों को मानव जाति का दुश्मन बताया और ट्यूटोनिक बर्बरों को उनसे कहीं अधिक अच्छा समझा।

३०६-३३७ ई० में कॉन्स्टैन्टाइन (Constantine) द्वारा ईसाई मत ग्रहण किए जाने और रोमन मूर्तिपूजा पर ईसाई चर्च की विजय ने यूरोप में इतिहास-लेखन-पद्धति को मध्य युग में एक नई दिशा प्रदान की। इतिहास-प्रणयन का कार्य अब अनेक वर्षों के लिए ईसाई सन्तों और पुजारियों के हाथ में चला गया जिसके फलस्वरूप इतिहास धर्मविज्ञान के रूप में परिणत हो गया। वैज्ञानिकता के स्थान पर उसमें उपदेशात्मक प्रवृत्ति आ गई और इतिहास सत्योद्घाटन से विमुख होता गया। ईसाई लेखकों ने धार्मिक मूल्यों के अतिरिक्त अन्य सभी मूल्य नकारे और लगभग एक हज़ार वर्ष तक वे या तो प्राचीन इतिहास की अवमानना करते रहे या अपने ढंग से उसका प्रतिपादन करते रहे। वास्तव में रोम के पतनकालीन युग में विभिन्न बर्बर जातियों के परस्पर संघर्ष के फलस्वरूप इतिहास-लेखन चर्चों और ईसाई मठों की शरण लेता रहा। उस समय ऐसी-ऐसी बातों का प्रतिपादन किया गया जिनसे इतिहास अब तक मुक्त नहीं हो पाया।

किन्तु ईसाइयों की इतिहास-लेखन-पद्धति का एक उज्ज्वल पक्ष यह था कि उसने आदम और हौवा के समय से लेकर ईसा मसीह तक के इतिहास को एक इकाई के रूप में प्रस्तुत कर इतिहास-दर्शन को जन्म दिया और इतिहास स्थानीय के स्थान पर सार्वभौम बन गया। ईसाई लेखकों ने मनुष्य का ईश्वर के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित किया। इस समय की 'द एक्लीज़िआस्टीकल हिस्ट्री ऑव यूसेबियस' (Eusebius, ३२४ ई०), सेंट ऑगस्टाइन कृत 'सिवितास दाई' (Civitas Dei, ४२६ ई०) जैसी इतिहास-दर्शन प्रस्तुत करने वाली उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। सेंट ऑगस्टाइन की रचना के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि वह न तो दर्शन है और न इतिहास। वह कोरा धर्मविज्ञान और कल्पनाविलास है। उसने मनुष्य को एक अप्रत्यक्ष सत्ता की असीम शक्ति के हाथ में कठपुतली की तरह

माना जिसे आधुनिक विद्वान् स्वीकार नहीं करते। तो भी सेंट ऑगस्टाइन का प्रभाव मध्य युग के लगभग एक हज़ार वर्ष तक बना रहा। यह प्रभाव इतिहास और दर्शन दोनों पर था।

वास्तव में यूरोपीय इतिहास के मध्य युग को यदि, एक ओर, सेंट ऑगस्टाइन की 'general secular history' की परम्परा मिली, तो, दूसरी ओर, यूसेबियस और, फिर, सुकरात, सोज़ोमेन, थियोडोरेट, कैसिओडोरस जैसे परवर्ती विचारकों एवं चिन्तकों से धार्मिक इतिहास की परम्परा मिली।

सम्यक् रूप से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यूरोप के मध्य युग का इतिहास-लेखन दो रूपों में उपलब्ध होता है—(१) 'ऐनल्स' और (२) 'क्रॉनिकिल्स'। मिश्र और बेबीलोन की सभ्यताओं के विकास के समय जिस प्रकार के 'ऐनल्स' मिलते हैं उसी प्रकार के ये भी हैं। ईस्टर की तिथि-गणना की दृष्टि से बनाई गई तालिकाओं के हाशियों पर सामयिक घटनाओं (जैसे भूकम्प, पवित्र अस्थियों के स्थानान्तरण, छह पैर वाले सूअर का जन्म आदि) का उल्लेख 'ऐनल्स' की विशेषता है। इतिहास की दृष्टि से इन 'ऐनल्स' का महत्व धीरे-धीरे बढ़ता गया। 'क्रॉनिकिल्स' का क्षेत्र व्यापक और विस्तृत था। सृष्टि की उत्पत्ति के इतिहास के साथ-साथ सामयिक घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से ये 'क्रॉनिकिल्स' इतिहास-लेखन की दृष्टि से अपरिहार्य माने जाते थे।

ईसा की ११वीं से १३वीं शताब्दियों में फ्रांस, जर्मनी, इँगलैंड आदि देशों में अनेक प्रकार के महत्वपूर्ण 'क्रॉनिकिल्स' निर्मित हुए। किन्तु ईसा की १४वीं-१५वीं शताब्दियों में 'ऐनल्स' का प्रचार कम हो गया और चमत्कारपूर्ण एवं अद्भुत बातों के विवरणों के स्थान पर 'क्रॉनिकिल्स' में घटनाओं का क्रमबद्ध विवरण रहने लगा। यहीं से यूरोपीय इतिहास-लेखन-पद्धति पर अरब और इस्लामी संस्कृति का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। यूरोपीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस्लाम और ईसाई धर्मों का परस्पर सम्पर्क यरूशलम में, दक्षिण इटली की यूनिवर्सिटियों में और स्पेन में स्थापित हुआ था। यूरोप में स्पेन तक अपनी विजय-पताका फहराते हुए ईसाई मत का इस्लाम से जबरदस्त संघर्ष (Crusades) होने पर ईसाइयों ने मुसलमानों से बहुत-कुछ सीखा और अपनी संस्कृति समृद्ध की। मुसलमानों की संस्कृति अधिक विकसित थी। अरब के मसूदी (?-९५६ ई०) ने अपनी महत्वपूर्ण कृति 'किताब-अल-अजायब' में पश्चिमी एशिया, पूर्वी यूरोप और उत्तरी अफ्रीका के इतिहास और मानव जातियों पर अच्छा प्रकाश डाला था। दमिश्क के इब्न-ख़ल्लिकन (Ibn Khallikan, १२११-१२८२ ई०) ने ऐतिहासिक जीवनियों का एक कोश तैयार किया था जो प्लूटार्क कृत 'पैरेलेल लाइव्ज़' से किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसी प्रकार ट्यूनिस के इब्न-खलदुन (१३३२-१४०६ ई०) ने अपनी रचना 'Prolegomene

to Universal History' में इतना अधिक व्यापक दृष्टिकोण और दार्शनिक गहनता व्यक्त की कि आर० फ़्लिन्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑव द फ़िलॉसॉफ़ी ऑव हिस्ट्री' (पृ० १५७-१७१) में इब्न-ख़लदुन को इतिहास-विज्ञान का जनक (founder of the science of history) कहा है।

अरब के सांस्कृतिक प्रभाव ने यूरोप का मध्य युग समाप्त कर वहाँ आधुनिक युग का सूत्रपात किया। चंगेज़ ख़ाँ (११६२-१२२७ ई०) की विजय के फलस्वरूप सुदूरपूर्व का प्रभाव भी यूरोप पर पड़ा और नवजागरण का जन्म हुआ। मुद्रण-कला, कुतुबनुमा और बारूद ने यूरोपीय जीवन में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। मुद्रण-कला ने पादरियों द्वारा प्रदर्शित ज्ञान का आधिपत्य समाप्त किया, तो कुतुबनुमा ने लम्बी समुद्री यात्राएँ सम्भव बना दीं और बारूद ने युद्ध-विद्या में परिवर्तन उपस्थित कर सामन्ती शौर्य का महत्व बहुत कम कर दिया। यूरोपीय इतिहास में १४५०-१५५० ई० का समय अत्यन्त महत्वपूर्ण संक्रमण-काल है। इसी समय चर्च के आधिपत्य के विरुद्ध इटली में हुए विद्रोह के फलस्वरूप यूरोप में मानववाद का जन्म हुआ जिसे कुछ विद्वानों ने प्रतिक्रियावादी और प्रतिगामी आन्दोलन भी कहा है, क्योंकि इस विरोधी आन्दोलन के फलस्वरूप मृतप्राय भाषाएँ उभरीं, पुरानी निरर्थक क्लैसीकल रचनाएँ सामने आईं, विचित्र दार्शनिक मत उत्पन्न हुए और सामाजिक एवं नैतिक मानदण्डों का पतन हुआ। लगभग एक हज़ार वर्ष तक धर्म के बन्धनों में बँधे रहने के बाद यूरोपीय बुद्धिवादियों को स्वतन्त्रता प्राप्त होने के फलस्वरूप कुछ प्रतिगामी तत्त्वों का उभर आना स्वाभाविक था। एक्विनास, हिल्दब्राँ (Hildebrand) और ऑगस्टाइन का प्रभाव दूर करने के लिए प्लेटो, ज्यूलियस सीज़र और सिसरो जैसी प्रतिभाओं की आवश्यकता थी। मानववादी दृष्टिकोण ने इतिहास को ईसाई पादरियों के दृष्टिकोण से मुक्त कर उसे धर्म-निरपेक्ष दृष्टि से देखा और वह उसे सामान्य व्यक्तियों के स्तर तक ले आया। इस प्रकार इतिहास-लेखन-परम्परा के अन्तर्गत 'क्रॉनिकिल्स', दैवी शक्ति और साधु-सन्तों की महिमा के स्थान पर राजनीतिज्ञों की कूटनीति और तलवार की शक्ति को स्थान मिलने लगा। इन इतिहास-लेखकों ने मध्य युग को हेय दृष्टि से देखा। उन्होंने इतिहास-लेखन में आधुनिकता का सूत्रपात किया, परिष्कृत साहित्यिक शैली का प्रयोग किया, विशुद्ध लेटिन शब्दावली का व्यवहार किया और सीधी-सादी बातें सीधे-सादे ढंग से प्रस्तुत न कर उन्हें अत्यधिक अलंकरण के बोझ से लदी हुई तथा सरलतापूर्वक समझ में न आ सकने वाली भाषा में व्यक्त किया। इसी समय इतिहास की गति निरन्तर प्रगति की ओर बढ़ती रहने वाली सीधी रेखा के समान स्वीकार न कर उसे वृत्ताकार गत्यानुरूप मान लिया गया। इसके अतिरिक्त उस समय थूसीडाइड्स तथा प्लूटार्क की भाँति व्यक्तिवाद और वीरपूजा की ओर ध्यान गया। साथ ही इस बात से भी इन्कार नहीं किया

जा सकता कि उस समय निरन्तर जिज्ञासा और बोधवृत्ति का भी स्फुरण हुआ। ईसा की १५वीं-१६वीं शताब्दी में ऐसे अनेक इतिहास-लेखकों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने या तो इतिहास के क्षेत्र में प्राचीन जालसाज़ी का उद्घाटन किया या रोमन साम्राज्य के पतन के बाद के ईसाई जगत् का विस्तृत इतिहास लिखा या जर्मनी और बोहीमिया तथा अन्य क्षेत्रों में प्राप्त राजनीतिक अनुभवों का उल्लेख किया। धर्म-निरपेक्षता या लौकिकता, क्लैसीसिज़्म या प्राचीन साहित्यिक आदर्श, तर्क-बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद को इन रचनाओं से प्रश्रय प्राप्त हुआ। इस प्रकार के इतिहास-लेखन का ज्वलन्त उदाहरण फ़्लोरेंटाइन के मैक्यावेली (१४६९-१५२७ ई०) और फ्रांसिस्को ग्युकिआर्दिनी (Guicciardini, १४८३-१५४० ई०) की रचनाओं में मिलता है जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा ग़ैर-ईसाई मूर्ति-पूजा और मध्य युग के प्रति हीन भाव उत्पन्न कर, पोपलीला के प्रति घृणा का प्रचार कर, राजनीति में सक्रिय भाग लेने तथा राष्ट्रप्रेम को प्रोत्साहन प्रदान कर अपनी वर्णनात्मक शक्ति के फलस्वरूप मानववादी इतिहास-लेखन-पद्धति को उच्चतम शिखर तक पहुँचा दिया।

यूरोपीय इतिहास-लेखन का एक और विकास उस समय उपस्थित हुआ जब ईसा की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक ईसाई सम्प्रदायों में इतिहास-प्रसिद्ध संघर्ष हुआ जिसका परिणाम हमें धर्मसुधार-आन्दोलन और धर्म-युद्धों में दृष्टिगोचर होता है। इसके मूल में मानववादी आन्दोलन का प्रसार ही था। इटली से आकर बस गए कुछ लोगों और मैक्यावेली जैसे लेखकों ने इँगलैंड, स्विट्ज़रलैंड, स्पेन, स्कॉटलैंड और फ्रांस के इतिहास-लेखकों को इतिहास के मूल स्रोतों का परीक्षण-विश्लेषण करने की प्रवृत्ति, दार्शनिक अन्तर्दृष्टि, श्रेष्ठ साहित्यिक शैली, सशक्त लेखन-प्रणाली, वर्णनात्मक क्षमता और धर्म-निरपेक्षता जैसे गुण प्रदान किए और इस प्रकार मानववादी इतिहास-लेखन का एक विकसित रूप सामने आया। पुनर्जागरण के स्थान पर धर्मसुधार-आन्दोलन की देन होने के कारण ये लेखक इटली के लेखकों से भिन्न थे। इसलिए क्लैसिकल पुरातनता के स्थान पर इन लोगों का ध्यान आदिम ईसाई मत की ओर अधिक गया। ग्रीक न्यू टेस्टामेन्ट (बाइबिल) और हेब्रू ओल्ड टेस्टामेन्ट (बाइबिल) के अध्ययन के फल-स्वरूप ईसाई जगत् के विचार-क्षेत्र में जो आलोड़न-विलोड़न हुआ उससे लेटिन के बन्धन और पोप की निरंकुशता से मुक्ति पाने की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। यह नैतिक, बौद्धिक, जातीय और राजनीतिक आन्दोलन उस समय अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गया जब विटेनबर्ग यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर तथा ऑगस्टाइन-सम्प्रदाय में दीक्षित मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६) ने पोप और ईसाई पादरियों के कर्मकाण्ड की जड़ें हिला दीं और प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय (१५२९ ई०) को जन्म दिया। कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदायों के संघर्ष से ऐतिहासिक खोज को

प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और अनेक सनसनीपूर्ण तथ्य सामने आए। किन्तु इस खोज के फलस्वरूप ऐतिहासिक तटस्थता और वैज्ञानिक सत्य के स्थान पर सम्प्रदायगत दृष्टिकोण अधिक उभरा। तो भी यह निश्चित है कि प्राचीन सामग्री का इतना अधिक मन्थन और इतनी अधिक ऐतिहासिक खोज पहले कभी नहीं हुई थी। इस संघर्ष से अनेक ऐतिहासिक सत्य उद्घाटित हुए और वैज्ञानिक ढंग से लिखे गए इतिहास-ग्रन्थ अस्तित्व में आए। ईसा की १५वीं और १८वीं शताब्दियों के बीच की गई धर्म-सम्बन्धी खोज ने आधुनिक ढंग की विवेक-सम्मत इतिहास-लेखन-प्रणाली को प्रश्रय दिया। इस विचार-मन्थन में रॉबर्ट बार्न्स, जॉन फ़ॉक्स, कार्डिनल सीज़र, बैरोनियस, जे० जे० स्कैलीगर तथा अन्य अनेक लेखकों ने भाग लेकर असंगत, अनर्गल और अतिशयोक्तिपूर्ण बातों का खण्डन करने के अतिरिक्त आदर्श खोज के उदाहरण प्रस्तुत किए।

धार्मिक एवं साम्प्रदायिक संघर्ष के फलस्वरूप इतिहास-लेखन को तो प्रोत्साहन प्राप्त हुआ ही, साथ ही कुतुबनुमा जैसे वैज्ञानिक आविष्कार ने भी इस कार्य में सहायता प्रदान की। धार्मिक कारणों से ही, किन्तु कुतुबनुमा की सहायता से, लम्बी समुद्री यात्राएँ की गईं और नए भूमिभागों की खोज ने ईसा की १६वीं-१७वीं शताब्दियों में इतिहास-अध्ययन की ओर अधिकाधिक ध्यान दिलाया। यूरोप की ईसाई सभ्यता का मेक्सिको, पेरू, जावा, बोर्नियो, मिस्र देश, दक्षिण अफ्रीका आदि की प्राचीन सभ्यताओं के सम्पर्क में आने से एक ऐसी नई ऐतिहासिक जिज्ञासा उत्पन्न हुई जिसने यूरोपीय विद्वानों को नए खोजे हुए भूमिभागों के इतिहास, वहाँ की सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं, वहाँ के पुरातत्त्व और प्राचीन आचार-विचारों के अध्ययन की ओर प्रेरित किया। इससे ऐतिहासिक कल्पना तीव्र हुई और यूरोप के मध्ययुगीन नीरस 'ऐनल्स' और 'क्रॉनिकिल्स' के स्थान पर ऐतिहासिक खोज में अधिक ताज़गी और रुचि उत्पन्न हुई। इस दृष्टि से स्पेन के इतिहास-लेखकों ने अग्रगण्य भाग लिया। इन नए भूमिभागों की खोज के कारण स्वयं यूरोपीय ईसाई जगत् के विचार-क्षेत्र में उथल-पुथल उत्पन्न हुई और उपनिवेशवाद, पूँजीवाद, औद्योगीकरण, समुद्री व्यापार, सामन्तविहीन कृषि आदि से सम्बन्धित क्रान्तिकारी विचारों का जन्म हुआ। न्याय और शासन-पद्धति में भी परिवर्तनों का जन्म लेना अनिवार्य हो गया। इतिहास-प्रसिद्ध 'नॉर्मन कौंक्वेस्ट', उदाहरणार्थ, एक ऐसा ही विषय बन गया था।

संसार के नए भूमिभागों की खोज के फलस्वरूप यूरोपीय देशों में जो सामाजिक और आर्थिक उथल-पुथल उत्पन्न हुई उससे ईसा की १६वीं-१७वीं शताब्दियों में ही जो संवैधानिक और राजनीतिक संघर्ष हुए उनसे ऐतिहासिक अध्ययन एवं प्रणयन को फिर एक नया आयाम प्राप्त हुआ। स्पेन के फ़िलिप की

नीति के विरुद्ध डच नीदरलैण्ड्स द्वारा स्वायत्त शासन और प्रान्तीय स्वातंत्र्य बनाए रखने की चेष्टा, फ्रांस के सम्राट् के विरुद्ध वहाँ के सामन्तों का संघर्ष और ईसा की १७वीं शताब्दी में इँगलैण्ड के स्टुअर्ट बादशाहों और पार्लामेन्ट के बीच हुए संघर्ष इस तथ्य का समर्थन करते हैं। इन संघर्षों के फलस्वरूप प्राचीन संग्रहालयों में खोज और अध्ययन प्रारम्भ हुआ और प्राचीन विधि-नियमों, शासनादेशों आदि का अपने-अपने तर्कपूर्ण ढंग से प्रतिपादन किया जाने लगा। इससे संविधानों के इतिहास-लेखन का बीज-वपन हुआ। उदाहरणार्थ, चार्ल्स प्रथम और हैम्पडन के बीच हुआ वाद-विवाद इतिहास-लेखन की दृष्टि से उतना ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ जितना कभी लिओ दशम और लूथर के बीच हुए वाद-विवाद से जर्मनी के इतिहास पर प्रकाश पड़ा। राजनीतिक गर्दोगुबार के बीच अनेक ऐतिहासिक तथ्य सामने आए, यह निस्संकोच कहा जा सकता है।

ईसा की १८वीं शताब्दी तक आते-आते यूरोप का धार्मिक एवं राजनीतिक संघर्ष लगभग समाप्त हो चुका था। फलतः इतिहास-लेखन धार्मिक एवं राजनीतिक प्रभावों से मुक्त होकर तर्कबुद्धिपरक विद्या या ज्ञान की एक शाखा के रूप में परिणत हो गया। इतिहास-लेखन के इस रूप का जिओवानी बातिस्ता वीचो (Giovanni Battista Vico, १६६८-१७४४)ऐसा पहला इतिहास-लेखक था जिसने इतिहास को युद्ध-भूमि से अलग कर उसे मानव-समाज के व्यापक ज्ञान की उपलब्धि का साधन बनाया। मानव-समाज का तर्कपूर्ण विश्लेषण कर उसने १८वीं शताब्दी का इतिहास-दर्शन प्रस्तुत किया। किन्तु प्रधानतः विधिशास्त्री होने के कारण वह इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत न कर सका। उसका यह कार्य मौंतेस्क्यू (१६८९-१७५५) ने पूर्ण किया। उसने अपनी रचनाओं द्वारा प्रकृति-वैज्ञानिक की भाँति तटस्थ दृष्टिकोण ग्रहण कर इँगलैण्ड, फ्रांस और रोम के विधानों के क्रमिक विकास का तुलनात्मक अध्ययन कर संस्थाओं और विचारों के विकास में जलवायु को प्रमुख कारण माना। इससे समाज-विज्ञान की प्रगति में भी महत्वपूर्ण योग प्राप्त हुआ। मौंतेस्क्यू के बाद वाल्तेयर (१६९४-१७७८), डेविड ह्यूम (१७११-१७७६), विलियम रॉबर्ट्सन, माइकेल श्मिट (१७३६-१७९४), एडवर्ड गिबनर (१७३७-१७९४), आर्नल्ड हीरेन (१७६०-१८४२) आदि ने इतिहास को लोकातीत कारणों से मुक्त कर उसे तर्कपूर्ण, विवेकसम्मत और सांगोपांग ढंग से रचित विद्या माना। उन्होंने इतिहास को एक ऐसे दर्शन के रूप में माना जो दृष्टान्तों द्वारा स्थापित होता है। किन्तु, क्योंकि उन्होंने ऑगस्टाइन की परम्परा का इतिहास-दर्शन नकारा था, इसलिए ये लेखक यह बताने में असमर्थ रहे कि इतिहास हमें क्या और किस प्रकार सिखाता है। इसी प्रकार उन्होंने इतिहास के मूल स्रोतों का सतर्कतापूर्वक अध्ययन तो किया, किन्तु सभी तथ्यों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त किए बिना उन्होंने इतिहास-प्रणयन का

कार्य प्रारम्भ कर दिया था। धर्म और राजनीति का प्रभाव भी वे धीरे-धीरे ही छोड़ पाए थे।

१७८९ में फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के जन्म के समय वाल्तेयर स्कूल की नीरस बौद्धिकता की प्रतिक्रिया के रूप में, और रूसो की क्रान्तिकारी भावुकता के प्रभावान्तर्गत १७८९ और १८१५ के बीच म्युलर (Muller), शिलर (Schiller) आदि की कुछ ऐसी रचनाएँ सामने आईं जो संतुलित ऐतिहासिक खोज के लिए उपयुक्त सिद्ध न हुईं। ये क्रान्तिकारी वर्ष थे, इसलिए मनन-चिन्तन, वैज्ञानिक परीक्षण-विश्लेषण के स्थान पर इतिहास में भावप्रवणता को स्थान मिला। १८१५ में हुई कांग्रेस ऑव वियना के बाद रूसो और फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप उत्पन्न विचारधारा के प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और जे० जी० फ़िख्टे (१७६२-१८१४) ने प्रारम्भ में तो एक प्रकार से रूसो के विचारों का समर्थन किया था, किन्तु १८१४ तक आते-आते उसने रूसो का साथ एकदम छोड़ दिया और वह व्यक्तिवाद और राष्ट्रीयता का समर्थक बन गया। विलियम सदे, विलियम वर्ड्सवर्थ, सेमुएल टेलर कोलरिज और जेम्स मैकिन्टोश जैसे अँगरेज़ फ़िख्टे की मनोवृत्ति धारण किए हुए थे। हर्डर (१८०३), शिलर (१८०५) और म्युलर (१८०९) की मृत्यु १८१५ से पहले ही हो चुकी थी और रोमाण्टिक भावना से ओतप्रोत इतिहास-लेखकों का एक नया सम्प्रदाय जन्म धारण कर चुका था। इस सम्प्रदाय ने वाल्तेयर और फ्रेन्च एनसाइक्लोपीडिस्ट्स के संशयपरक तर्कबुद्धिवाद (sceptical rationalism) और रूसो तथा काण्ट के गूढ़दर्शन (abstract philosophy) के प्रति विद्रोह प्रकट कर भावुकतापूर्ण धर्म (irrational religion) के प्रति आस्था, पुरातत्त्व के प्रति आदर-भाव, परम्परा के प्रति मोह, मध्य युग की महिमा के प्रति आदर्शपूर्ण दृष्टिकोण, ईश्वरप्रदत्त अधिकारों (divine rights) के सिद्धान्त को फिर से उठाने, राष्ट्रीयता की महिमा के प्रतिपादन को और प्रजातन्त्र के प्रति विरोधी भावना को मान्यता प्रदान की। शौर्य-प्रदर्शन और मध्ययुगीन सामन्तों की गौरवपूर्ण गाथाएँ प्रस्तुत कर उन्होंने कठोर यथार्थ के स्थान पर अमूर्त आदर्श की ओर ध्यान दिया। वास्तव में प्राचीन के प्रति उनका दृष्टिकोण वायवी और काल्पनिक था। इन लेखकों ने पुनर्जागरण काल, सुधारवादी आन्दोलन (Reformation) और बौद्धिक युग (Aufklarung) द्वारा मध्य युग पर लगाए गए दोषों का परिहार किया और दीर्घ काल से उपेक्षित अभिलेखों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। उनकी विचारधारा ने इतिहास-लेखन-पद्धति को नैतिकतावादी और परिणाम-वादी रूप प्रदान करना चाहा। किन्तु विद्वानों की राय में रोमांटिसिज़्म की यह भावना इतिहास-प्रणयन की दृष्टि से ठीक नहीं थी। इससे गड़े मुर्दे उखाड़ने

में ही अधिक सहायता मिली। इसके उदाहरण पेरो (Perrot), डिग्बी (Digby), शातोब्रियाँ (Chatteaubriand), कार्लाइल आदि की रचनाओं में तो मिलते ही हैं, किन्तु यह प्रवृत्ति फ्रीड्रिख़ श्लेगेल (Schlegel, १७७२-१८२९), एफ़० डब्ल्यू० जे० फ़ॉन शेलिंग (Schelling, १७७५-१८५४) और फ्रीड्रिख हेगेल (Hegel, १७७०-१८३१) की रचनाओं में अपने उच्चतम शिखर पर पहुँची हुई दृष्टिगोचर होती है। श्लेगेल की दृष्टि में ऐतिहासिक विकास-क्रम मनुष्य में भूतभावन की दिव्य अनुभूति का जाग्रत होना है। शेलिंग ने सर्जनात्मक प्रतिभा को अचेतन शक्तियों के फलस्वरूप माना। हेगेल ने अपने ग्रन्थ 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑव हिस्ट्री' में 'थीसिस' और 'ऐंटीथीसिस' के अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप 'सिन्थेसिस' को ऐतिहासिक विकास-क्रम का कारण मान कर इतिहास को उस अध्यात्ममूलक दृष्टि का परिणाम माना जो मनुष्य को अपनी क्षमता के प्रति सज्ञान कराता है। हेगेल के विचारों का पोषण अन्य अनेक विचारकों ने किया। रोमांटिसिज़्म से प्रेरित इतिहास-लेखन-पद्धति पर वॉल्टर स्कॉट के ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रभाव भी पड़े बिना न रह सका। रोमांटिक स्कूल के इतिहास-लेखकों में ऑगस्टिन थिएरी (Augustin Thierry, १७९५-१८५६), बेरौं द बराँत (Baron de Barante, १७८२-१८६६) और हाइनरिख़ लिओ (Heinrich Leo, १७९९-१८७८) के नाम आदर के साथ लिए जाते हैं। कार्लाइल (१७९५-१८८१), फ्रूड (Froude, १८१८-१८९४), ज़्यूल मिशेले (Jules Michelet) आदि ने रोमांटिक प्रवृत्ति को अधिकाधिक पुष्ट किया। कार्लाइल को जनसाधारण के प्रति कोई लगाव नहीं था। उसे इतिहास-लेखन की परम्परागत प्रणाली में विश्वास था। केवल महान् विभूतियों के प्रति अपने आकर्षण के कारण वह 'portrait painter' के नाम से प्रसिद्ध है। कार्लाइल के अमरीकी अनुयायियों में जॉन लॉथ्रोप मोट्ले (१८१४-१८७७) का नाम उल्लेखनीय है।

इतिहास-लेखन की इस रोमांटिक प्रणाली ने ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में ही राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को जन्म दिया। यूरोप की राजनीतिक सत्ता के विस्तार के कारण गैर-यूरोपीय लोगों के इतिहास में रुचि उत्पन्न होने, प्रकृति-विज्ञान के विकास और उसके फलस्वरूप एक विशेष संशयवादी दार्शनिक दृष्टिकोण उत्पन्न होने के कारण ही नहीं, वरन् परवर्ती मध्ययुगीन सामन्ती शक्तियों के स्थान पर यूरोप में आधुनिक स्वतन्त्र राष्ट्रों के जन्म ने भी इतिहास-लेखन-पद्धति में परिवर्तन उपस्थित किया। मध्यम वर्ग का जन्म भी इसी समय हुआ। इसलिए विभिन्न राष्ट्रों में राष्ट्रीय गर्व का प्रादुर्भाव होना और इस गर्व के फलस्वरूप अपने-अपने गौरवपूर्ण अतीत का इतिहास खोजना स्वाभाविक था। यद्यपि राष्ट्रीय भावना ईसा की सोलहवीं शताब्दी के यूरोप में भी मिलती है, तो भी फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति, नेपोलियन और प्रशा के पुनरुत्थान के कारण इस भावना को उत्तेजना प्राप्त हुई।

लोग अपने-अपने देश की प्रतिभा खोजने लगे। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में एक और कारण था जिससे राष्ट्रीय भावना पुष्ट हुई। १८५४ ई० में काउंट जोसेफ़ आर्थर द गोबीनो (१८१६-१८८२) ने जब श्रेष्ठ और हीन जातियों का अन्तर स्पष्ट करते हुए आर्य जाति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की तो इससे राष्ट्रीय अहं की वृद्धि हुई और 'अनार्य' जातियों का दमन प्रारम्भ हुआ। इतिहास-लेखन के राष्ट्रवादी सम्प्रदाय का जन्म सर्वप्रथम जर्मनी में माना जाता है। वहाँ जर्मन इतिहास के प्राचीन स्रोत, स्टाइन से प्रेरित होकर, ढूँढने का ही प्रयास नहीं हुआ, वरन् अपने प्राचीन गौरव या अपनी प्राचीन गौरवपूर्ण गाथाओं को भी प्रकाश में लाया गया। यह प्रवृत्ति प्रशा में विशेष रूप से उभरी। बिस्मार्क (१८१५-१८९८ ई०) जैसे सेना-नायकों से उसे अधिकाधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। कालान्तर में इस प्रवृत्ति का अनुसरण फ्रांस में भी हुआ। फ्रांसीसियों ने भी फ्रैंक्वा ग्विज़ो (Francois Guizot) से प्रेरणा ग्रहण कर अपने राष्ट्रीय इतिहास के मूल स्रोत खोजना प्रारम्भ कर दिया। इस दृष्टि से फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने फ्रांस को यूरोप का अग्रगण्य राष्ट्र बनाने में सहायता की। अपनी प्राचीन राष्ट्रीय ऐतिहासिक गाथाओं को उन्होंने अत्यधिक रोमांटिक दृष्टि से देखा। इँगलैण्ड ने भी १८००ई०से अपने राष्ट्रीय इतिहास के मूल स्रोतों का संकलन-सम्पादन प्रारम्भ कर दिया था और कार्लाइल तथा जेम्स ऐंथनी फ्रूड इँगलैण्ड का यशगान कर चुके थे। इसलिए इँगलैण्ड भी इतिहास-लेखन की राष्ट्रवादी प्रवृत्ति व्यक्त करने में जर्मनी और फ्रांस से पीछे न रह सका। इँगलैण्ड के साथ-साथ इटली ने भी इस दिशा में काफ़ी प्रगति की। वैसे देखा जाए तो यूरोप के सभी प्रमुख देशों में राष्ट्रीय गौरव की अभिवृद्धि के लिए बहुत पहले से प्रयास हो रहे थे, तो भी उन्नीसवीं शताब्दी में यह प्रवृत्ति उपर्युक्त कारणों से एकदम प्रमुख हो गई। इससे इतिहास-दर्शन और इतिहास-लेखन-प्रणाली को नई दिशा तो अवश्य प्राप्त हुई, किन्तु इतना भी निस्संकोच कहा जा सकता है कि इन इतिहासों में संकुचित मनोवृत्ति और राजनीतिक पक्ष प्रमुख रूप से स्थापित किए जाने के प्रयास के दर्शन हुए बिना भी न रह सके।

इतिहास-लेखन के राष्ट्रवादी सम्प्रदाय का उल्लेख करने के साथ-साथ इस बात का संकेत कर देना भी आवश्यक है कि इस समय प्राचीन सामग्री के संकलन, परीक्षण-विश्लेषण, वर्गीकरण, केन्द्रीयकरण आदि की दृष्टि से जितना काम हुआ, उतना पहले कभी न हुआ था। विभिन्न राष्ट्रों के उदय के साथ-साथ वहाँ जो प्रशासनिक प्रणाली विकसित हुई उससे उस सामग्री को एक केन्द्रीय स्थान पर सुरक्षित रखने में सहायता प्राप्त हुई। इस दृष्टि से फ्रांस सबसे आगे समझा जाता है और इँगलैण्ड पिछड़ा हुआ माना जाता है। अमरीका में भी इस प्रकार के प्रयास हुए हैं और हो रहे हैं—यद्यपि उसकी तुलना यूरोपीय देशों में हुए प्रयास

से नहीं की जा सकती। अमरीका का राजनीतिक पैटर्न इस मामले में बाधक है। केन्द्रीय अमरीकी सरकार को राजनीति से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती। वहाँ जो सामग्री संकलित हुई है वह व्यक्तिगत प्रयासों, प्रकाशन कम्पनियों, इतिहास-परिषदों आदि के कारण हो सकी है। अमरीका में भी यह कार्य ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हो गया था। अमरीका का स्वतन्त्रता-संग्राम (स्वतन्त्रता की घोषणा ४ जुलाई, १७७६) वहाँ के राष्ट्रवादी दृष्टिकोण की प्रेरक शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता के लिए अमरीका ने जो कार्य किया है, वहाँ के प्रेसीडेंटों ने जो आदर्श स्थापित किए हैं, उनसे अमरीका की राष्ट्रीय भावना पुष्ट हुई है। अमरीका की स्वतन्त्रता ने न केवल एक स्वतन्त्र राष्ट्र को जन्म दिया, वरन् मानव-स्वतन्त्रता के उन नवीन सिद्धान्तों की भी नींव डाली जो आगे चल कर समस्त पश्चिमी संसार के लिए प्रेरक शक्ति सिद्ध हुए।

लौकिक दृष्टि से नहीं, धार्मिक दृष्टि से भी पादरियों द्वारा संकलित प्राचीन सामग्री के पीछे भी राष्ट्रवादी दृष्टिकोण निहित था। इतिहास-लेखन की राष्ट्रवादी प्रवृत्ति से एक लाभ तो यह हुआ कि इतिहास के लिए जो उपयोगी सामग्री लुप्त हो जाती उसे खोज कर सुरक्षित रखा गया। उस सामग्री के संकलन, सम्पादन और वर्गीकरण ने इतिहास-लेखकों को एक नई दृष्टि प्रदान की। यह तो बहुत अच्छा काम सम्पन्न हुआ। किन्तु इसका एक अवांछनीय पक्ष भी सामने आया और वह यह था कि राष्ट्रवाद से प्रेरित बड़े-से-बड़ा इतिहास-लेखक भी पक्षपात और पूर्वाग्रह से ग्रस्त रहा और इस प्रवृत्ति ने ठंडे दिमाग से सोचने, तटस्थता ग्रहण करने और ऐतिहासिक तथ्यों का ठीक-ठीक वैज्ञानिक ढंग से निरूपण करने में बाधा उपस्थित की। इस उग्र राष्ट्रीयता का परिणाम अन्ततोगत्वा १९१४ और १९३९ के दो महायुद्धों के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। वास्तव में यह कहना अनुचित न होगा कि उग्र राष्ट्रवादी इतिहास-लेखकों के कारण मरणोन्मुख यूरोपीय सभ्यता रक्तरंजित हो चुकी है। फ्रूड (Froude), बैंक्रॉफ़्ट आदि की रचनाओं के फलस्वरूप ऐसी अनेक पाठ्य-पुस्तकें निर्मित हुईं जिन्होंने विद्यार्थियों के मन-मस्तिष्क विकृत कर दिए और मानवता को उसका परिणाम भुगतना पड़ा।

विद्वानों का यह मत है कि यूरोप में इतिहास-लेखन की आधुनिक पद्धति की दृष्टि से ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी का विशेष महत्व है, क्योंकि इससे पहले इतिहास-विज्ञान ने ऐतिहासिक कारण-कार्य-सम्बन्ध का अनर्थकारी सिद्धान्त ग्रहण किया और मध्ययुग के प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित किया। ये विशेषताएं बुद्धिवादी या तर्कबुद्धिपरायण सम्प्रदाय की थीं। उस समय न तो मूलभूत सामग्री का संकलन भली भाँति और पूरे तौर पर हो सका था और न उपलब्ध सामग्री का आलोचनात्मक पद्धति द्वारा अध्ययन ही हुआ था। साथ ही उन्नीसवीं शताब्दी

से पूर्व इतिहास विषय की शिक्षा देने की समुचित व्यवस्था भी न हुई थी। रोमांटिसिज़्म के अनुयायियों ने ऐतिहासिक विकास के सातत्य और ऐतिहासिक खोज के लिए मध्ययुग के महत्व पर बल देकर तर्कपरायण बुद्धिवादियों की प्रणाली के दोषों का परिहार किया था। राष्ट्रवादियों के प्रयासों के फलस्वरूप इतिहास की मूलभूत सामग्री का संकलन करने में सहायता प्राप्त हुई।

विद्वानों के मतानुसार ही इसके बाद वह स्थिति आई जब उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की विद्वत्तापूर्ण एवं वैज्ञानिक ढंग से विवेचना तथा परीक्षण-विश्लेषण के बाद इतिहास-लेखन-पद्धति का वह आधुनिक तटस्थ और बुद्धिप्रमुख रूप सामने आया जिसका प्रधान लक्ष्य जाति-रंग-रूप से ऊपर उठ कर सत्यान्वेषण मात्र है। इस पद्धति में बेकार की शब्दाडंबरपूर्ण बहस नहीं रहती। वह दो रूपों में हमारे सामने आई—(१) राजनीतिक इतिवृत्तों, प्राचीन लिपियों, पुरालेखों या शिलालेखों, शब्द-भाण्डारों आदि के सहायक एवं पूरक विज्ञानों के अध्ययन द्वारा किसी प्राचीन सामग्री की प्रामाणिकता निर्धारित करना, और (२) प्रामाणिकता निर्धारित करने तक सीमित न रह कर उसका भाष्य या उसकी आलोचनात्मक व्याख्या करना। पहला रूप हमें मूलतः १७-१८वीं शताब्दी के धर्माचार्यों द्वारा किए गए प्रयासों में मिलता है। उन्होंने प्राचीन सामग्री खोजने और उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए अथक परिश्रम किया था। किन्तु वे केवल बाह्य साक्ष्य और ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए आलोचना तक अपने को सीमित रख सके। वे मूल सामग्री को ही 'अन्तिम सत्य' मान लेते थे। क्रमिक ऐतिहासिक विकास और सातत्य में उन्हें विश्वास नहीं था। वे मात्र पुरातन-प्रेमी थे। अपनी धार्मिक परम्पराओं की आलोचना करना भी वे पसन्द न करते थे। प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के तर्कों का उत्तर देने के लिए केवल जेसुइट पादरियों ने उपलब्ध सामग्री की आन्तरिक परीक्षा करनी प्रारम्भ की थी। वे प्राचीन परम्पराओं और कथाओं को वैज्ञानिकता की कसौटी पर कसना चाहते थे। विद्वानों के कथनानुसार वैसे तो कोई एक व्यक्ति या सम्प्रदाय आधुनिक आलोचनात्मक एवं व्याख्यात्मक इतिहास-लेखन-पद्धति का जन्मदाता नहीं माना जा सकता, तो भी वे जस्टस मोसर (Justus Moser) के शिष्य बार्थोल्ड जॉर्ग नीबूर (Barthold Georg Niebuhr, १७७६-१८३१) को आधुनिक इतिहास-लेखन-पद्धति का जन्मदाता मानते हैं। लिओपोल्ड फ़ॉन रैंके (Leopold Von Ranke, १७९५-१८८६) और थिओडोर मॉमसेन (Theodor Mommsen) दोनों प्रसिद्ध आधुनिक इतिहास-दार्शनिकों को उसी का उत्तराधिकारी माना जाता है। इतिहास-लेखन-पद्धति की दृष्टि से उसका योगदान इसलिए माना जाता है, क्योंकि उसने (१) सामयिक सामग्री के उपयोग के अतिरिक्त घटनाक्रमों के पीछे छिपे व्यक्तित्व के अध्ययन पर बल दिया, (२) रोमांटिसिस्ट्स की भाँति उसने प्रत्येक

युग के युगबोध या युगचेतना, 'ज़ाइटगाइस्ट' (Zeitgeist), पर बल दिया और (३) यह कहा कि इतिहास-लेखक को अपने सामयिक पूर्वाग्रहों से मुक्त रह कर अतीत को देखना चाहिए और अतीत को जैसा का तैसा प्रस्तुत करना चाहिए। फ़ॉन रैंके की प्रणाली में दोष यह कह कर बताए जाते हैं कि उसने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों की उपेक्षा कर महान् व्यक्तियों और घटनाओं पर अधिक बल दिया। तो भी इतिहास-लेखन-पद्धति पर उसका अमिट प्रभाव स्वीकार किया जाता है। उसने सामग्री की आन्तरिक परीक्षा एवं व्याख्या और तटस्थता पर बल दिया। इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर उसने १८३३ में बर्लिन यूनिवर्सिटी में एक सेमिनार भी स्थापित किया जो बहुत दिनों तक चलता रहा। इसीलिए फ़ॉन रैंके से आधुनिक इतिहास-विज्ञान का शिलान्यास रखा गया माना जाता है। उसके बाद इस दिशा में उत्तरोत्तर उन्नति होती गई और होती जा रही है। जर्मनी में उसके शिष्यों ने उसके द्वारा स्थापित प्रणाली का प्रचार-प्रसार और विकास उपस्थित किया। थिओडोर मॉमसेन की रचनाएँ इस दृष्टि से सर्वोत्तम उदाहरण समझी जाती हैं। अन्य अनेक प्रतिभाशाली जर्मन इतिहास-लेखकों ने इस प्रणाली के विकास में व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों रूपों में योगदान दिया। इस प्रणाली का फ़्रांस और इँगलैण्ड में भी अनुसरण हुआ। जर्मनी में एक व्यक्ति के प्रयास के फलस्वरूप इस प्रणाली का विकास हुआ था, किन्तु फ़्रांस में 'लेकोल दै शार्त' (L' Ecole des Chartes, १८२६) से सम्बद्ध अनेक विद्वानों के सम्मिलित प्रयास से वह पुष्पित-पल्लवित हुई और फ़्रांस में अनेकानेक इतिहास-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। गैब्रील मोनो (Monod) ने अपनी अप्रतिम प्रतिभा और योग्यता के फलस्वरूप इस प्रणाली का अधिकाधिक परिष्करण किया। गैब्रील मोनो ने तो जर्मनी में दीक्षा प्राप्त की थी, किन्तु इँगलैण्ड में वहाँ की निजी देशी प्रतिभा द्वारा इस प्रणाली का विकास हुआ। वहाँ लेकोल दै शार्त या 'हिस्टौरीकल इन्स्टीट्यूट ऑव वियना' जैसी संस्थाएँ भी स्थापित न हुई थीं। इँगलैण्ड के फ़्रीमैन, स्टब्स, ग्रीन, लेकी आदि ने जो कार्य प्रारम्भ किया वह सेमुएल रौसन गार्डीनर की रचनाओं में अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गया। अनेक विद्वान् अँगरेज़ इतिहास-लेखकों ने यह प्रणाली समृद्ध की। सहकारिता के फलस्वरूप प्रणीत 'केम्ब्रिज ऐन्शेन्ट हिस्ट्री', 'केम्ब्रिज मेडीवल हिस्ट्री', 'केम्ब्रिज मॉडर्न हिस्ट्री', 'केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव ब्रिटिश एम्पायर' उनकी प्रतिभा का एक उज्ज्वल उदाहरण है। अमरीका में इस प्रणाली का श्रीगणेश अमरीकी गृह-युद्ध के बाद माना जाता है—वह भी जर्मनी के प्रभावान्तर्गत। जॉर्ज बैनक्रॉफ़्ट, फ़ॉन रैंके का मित्र था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम पचीस वर्षों में किए गए उसके कार्य का कोई बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। अमरीका में इस प्रणाली की प्रगति १८५७ ई० से मानी जाती है जबकि हार्वर्ड में जारेड (Jared) स्पार्क्स का उत्तरा-

धिकारी हेनरी टोरी (Torrey) कोलम्बिया में फ्रांसिस लीबर (Lieber) प्रोफ़ेसर नियुक्त हुआ और मिशीगैन में ऐंड्रू डी० ह्वाइट ने इतिहास के प्रोफ़ेसर के रूप में पद ग्रहण किया। इन विद्वानों का जर्मनी के साथ सम्पर्क बना रहता था। हर्बर्ट वाक्स्टर ऐडम्स ने जब १८७६ में जॉन्स हॉप्किन्स यूनिवर्सिटी में इतिहास का अध्ययन-अध्यापन प्रारम्भ किया तो उसने इस आधुनिक प्रणाली की यथेष्ट उन्नति की। उसने जर्मनी की भाँति सेमिनार प्रणाली ग्रहण की और इस सेमिनार में दीक्षित विद्वान् अमरीका की लगभग सभी यूनिवर्सिटियों में फैल गए। १८७३ में जॉन विलियम बर्जेस ने व्यक्तिगत रूप में अत्यधिक जर्मन प्रभाव प्रदर्शित किया। इस दृष्टि से हार्वर्ड के एलबर्ट बुशनेल हार्ट का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। अमरीका में इतिहास-लेखन की इस आधुनिक प्रणाली का काफ़ी प्रचार है।

निस्सन्देह इतिहास-दर्शन ने ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में अत्यधिक प्रगति प्राप्त की और उस समय की शोध-प्रविधि और मूलभूत स्रोतों की खोज ने इतिहास का अध्ययन करने की दृष्टि से ऐसे साधन प्रस्तुत किए जो पिछले युगों में अनुपलब्ध थे। तो भी विद्वानों का मत है कि उस समय के विद्वान् शोध-प्रविधि में इतने अधिक ग्रस्त हो गए कि वे घटनाओं का सापेक्षिक महत्व निर्धारित करना भूल गए। वे भूल गए कि इतिहास का भी अपना एक नैसर्गिक रूप होता है और ऐतिहासिक विषय-वस्तु का भी एक सन्तुलित रूप होता है। यह तो निर्विवाद है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम पचीस वर्षों में विभिन्न स्वतन्त्र राष्ट्रों के उदय, यूरोप की सत्ता के विस्तार, १७-१८वीं शताब्दियों के वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप जो महत्वपूर्ण सामाजिक और बौद्धिक परिवर्तन हुए उनका प्रभाव इतिहास-प्रणयन की प्रणाली और इतिहास-लेखकों के दृष्टिकोण पर पड़े बिना न रह सका। इस महान् परिवर्तन का प्रमुख कारण यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति थी। औद्योगिक क्रान्ति के साथ-साथ प्रकृति-विज्ञान और समाज-विज्ञान द्वारा की गई प्रगति ने न केवल मानव-जीवन की भौतिक स्थिति को नया रूप प्रदान किया, वरन् उसने सम्पूर्ण सभ्य संसार से सम्बन्धित दृष्टिकोण (Weltan-Schaung) ही बदल डाला। मानव की जीवन-पद्धति पर फिर से सोच-विचार किया जाने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी से पहले ऐसा महत्वपूर्ण परिवर्तन कभी दृष्टिगोचर नहीं होता। इस परिवर्तन ने इतिहास-सम्बन्धी धारणा को नया रूप प्रदान किया। वास्तव में औद्योगिक क्रान्ति, समाज-विज्ञान, प्रकृति-विज्ञान की प्रगति ने पुराने मूल्यों के स्थान पर नवीन मूल्यों की स्थापना की। पुरानी ग्राम-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई और वैज्ञानिक आविष्कारों और जीवन के अन्य क्षेत्रों में हुए परि-वर्तनों के फलस्वरूप नगरीकरण की प्रक्रिया तीव्र हुई। किन्तु नगरीकरण ने ऐसी सामाजिक, आर्थिक और आवास-सम्बन्धी समस्याएँ उत्पन्न कीं जिनका समाधान

सरल कार्य न था। इन सब कारणों से इतिहास-लेखकों के सामने राज्य की अपेक्षा मानवता और राजनीति की अपेक्षा समाज ने प्रमुखता धारण कर ली।

फलतः सम्प्रति, आर्नल्ड टॉयनबी (जिनके अनुसार इतिहास विकास के चरम बिन्दु पर पहुँच कर उसी प्रकार अधोमुख होता है जिस प्रकार पानी की लहरें उठती-गिरती रहती हैं) जैसे चिन्तक एवं विचारक के प्रयत्न के बावजूद ऑगस्टाइन और हेगेल द्वारा स्थापित इतिहास-दर्शन लुप्तप्राय हो गया है। अब इतिहास-दर्शन के निश्चित, निर्धारित सिद्धान्तों को सन्देह-बुद्धि से देखा जाता है। मानव-जीवन के सामाजिक और ऐतिहासिक जीवन से सम्बन्धित अपरिमित ज्ञान-विस्तार के फलस्वरूप इतिहास-दर्शन का कोई सरल औपचारिक रूप नहीं रह गया। ऐतिहासिक तथ्यों के प्रतिपादन की विविध प्रणालियाँ विकसित हो गई हैं। सिद्धान्तों पर आधारित पिछले इतिहास-दर्शन की अपेक्षा आज न तो उसके सोद्देश्य होने में विश्वास किया जाता है और न उसकी निगमनात्मकता में। अब तो आज की मानव-सभ्यता के विकास में जिन विविध कारणों ने सक्रिय सहयोग प्रदान किया उन पर समग्र रूप से विचार किया जाता है। वास्तव में फ़ॉन रैंके की निर्जीव शोध-प्रणाली के कंकाल में वर्तमान विचारक रक्त-मांस का संचार कर, किसी एक राष्ट्र या जाति की वर्तमान जीवन-व्यवस्था कैसे, किन विविध कारणों से विकसित हुई, इस तथ्य पर विचार कर रहे हैं। इतिहास-लेखन की यही वैज्ञानिक प्रणाली समझी जा रही है और उसके सम्बन्ध में निष्कर्ष उसी प्रकार माने जा रहे हैं जिस प्रकार प्रयोगशाला में किए गए प्रयोगों और निरीक्षण के फलस्वरूप प्रकृति-विज्ञान के सम्बन्ध में निष्कर्ष। सच तो यह है कि वर्तमान इतिहास-दर्शन पिछले युगों की बौद्धिक सक्रियता का ही परिणाम है। पिछले युगों पर दृष्टिपात करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन अलौकिकता के स्थान पर पौराणिकता और दार्शनिकता को स्थान मिला। तत्पश्चात् (ऑगस्टाइन से बूसे तक) पौराणिकता के स्थान पर अन्तिम परिणाम या युगान्त-विषयक (Eschatological) दृष्टिकोण व्याप्त हुआ और फिर यूरोपीय सत्ता के प्रसार के फलस्वरूप उत्पन्न बौद्धिक सक्रियता ने (बेकन, डेसकार्टीज़, वॉलतेयर और ह्यूम के) व्याख्यात्मक एवं बौद्धिक सम्प्रदाय को जन्म दिया जिसकी अन्तिम परिणति काण्ट और फ़िख़्टे के आदर्शवाद में और बर्क तथा हेगेल के रोमेंटिसिज़्म में हुई। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के बाद उत्पन्न राष्ट्रवाद को औद्योगिक क्रान्ति ने निष्प्राण कर दिया और औद्योगिक क्रान्ति के बाद विकसित मानव-ज्ञान की विभिन्न महत्वपूर्ण शाखा-प्रशाखाओं के फलस्वरूप ऐतिहासिक विकास-क्रम की विभिन्न प्रतिपादन-प्रणालियों का जन्म हुआ। मानव-ज्ञान की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं ने आज इतिहास-लेखन-प्रणाली का क्षितिज अत्यन्त व्यापक बना दिया है। ज्ञान की ये शाखा-प्रशाखाएँ अपने में एकदम स्वतन्त्र न होकर एक

दूसरे की पूरक हैं।

एक पाश्चात्य विद्वान् के अनुसार सम्प्रति जो मत प्रचलित हैं वे हैं— (१) प्रत्येक युग में कोई एक ऐसा महापुरुष या महान् व्यक्ति अवतरित होता है जो इतिहास की गतिविधि निर्धारित करता है। इस दृष्टि का प्रतिनिधित्व कार्लाइल और फ़्रूड ने किया था। वर्तमान समय में एमील फ़ागे (Emile Faguet) और विलियम रौस्को थायर (William Roscoe Thayer) इस मत का समर्थन करने वाले प्रमुख व्यक्ति हैं। (२) आर्थिक या भौतिकवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन लुड्विग ए० फ़्यूरबाख़ और कार्ल मार्क्स ने किया था जिसके लोरिआ, एश्ले, हैमण्ड्स, वेब्स, बोगार्ट आदि जैसे विद्वान् समर्थक माने जाते हैं। इस मत के अनुसार उत्पादन और वितरण की प्रणाली के फलस्वरूप उत्पन्न द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद समाज-व्यवस्था की गति निर्धारित करता है। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विचारधारा रही है। मार्क्स-ऐंगेल्स के विचारों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हेगेल के विचारों से है। प्रोफ़ेसर टी० ए० जैक्सन ने अपने ग्रन्थ 'डायलेक्टिक्स' (१६३६, १९४५ ई०) में यह भली भाँति बताया है कि मार्क्स और ऐंगेल्स ने 'सिद्धान्त' और 'व्यवहार' के घनिष्ठ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध और उनकी परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया पर बल देते हुए प्रकृति और इतिहास की आत्मपरक द्वन्द्वात्मकता के स्थान पर वस्तुपरक द्वन्द्वात्मकता को प्रमुखता प्रदान की और परस्पर विरोधी तत्त्वों से एक नए तत्त्व के पैदा होने का तर्क प्रस्तुत किया। दो विरोधी शक्तियों से एक नई शक्ति उत्पन्न होती है। यह क्रम प्रकृति और व्यवहार में बराबर चलता रहता है। प्रो० जैक्सन के कथनानुसार : "In the Dialectical Materialism of Marx...Nature and History constitute a 'unity' of the 'dialectical' kind. They are 'one' and 'not one'; they are connected yet opposed; the one (History) develops 'from' the other (Nature). History, which is 'socialised humanity' in 'motion', involves a continuous and development-producing interaction between Mankind (in its collective interrelation) and Nature as a result of which both Mankind (collectively) and Nature are 'altered'. History is the becoming process of human society..." अथवा "circumstances make men as much as men make cricumstances", इसलिए "Man makes his own history." इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार में न जाकर इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि इससे हेगेल के आदर्शवादी दृष्टिकोण का खण्डन हो जाता है और इतिहास के विकास के पीछे द्वन्द्वात्मक विधान स्वीकार किया जाता है। जो विद्वान् इतिहास की पुनरावृत्ति मानते हैं, या उसे किसी अलौकिक दैवी

शक्ति के हाथों सौंप देना चाहते हैं, उनके मत का भी इससे समर्थन नहीं होता, क्योंकि मार्क्स इतिहास के विकास में नियति का नहीं, मनुष्य के कृतित्व का दायित्व मानता है। टॉयनबी की जल-वीचियों के उत्थान-पतन की भाँति इतिहास-दृष्टि भी मानव जाति की निरन्तर ऊर्ध्व गति का पोषण नहीं करती। वास्तव में मार्क्स उत्पादन-वितरण के साधनों और मानव-कृतित्व को ध्यान में रखते हुए इतिहास को मनुष्य-निर्मित, किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं, वर्ग द्वारा, मानता है। (३) किसी देश का इतिहास लिखने से पूर्व वहाँ की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने की परम्परा हिप्पोक्रेटीज़ (Hippocrates) और स्ट्राबो से शुरू होकर कार्ल रिटर, फ्रीड्रिख़ रैट्ज़ेल (Ratzel), एडमंड डिमोलिन्स, एल्स्वर्थ हंटिंग्टन, एच० जे० मैकिन्डर आदि तक चली आई है। सन् १९७९ में सी० फ़िस्टर (Pfister), ई० शुन्के (Schunke), जैसे तथा अन्य भूगोलविद्याविशारदों ने भौगोलिक परिवर्तन और वातावरण-विज्ञान का अध्ययन कर मानव-जीवन के विकास के सम्बन्ध में अत्यन्त रोचक निष्कर्ष निकाले। (४) काण्ट और फ़िख़्टे के आदर्शवाद से प्रभावित विचारधारा जो इतिहास को अध्यात्मवादी दृष्टि से देखती है। उपर्युक्त दूसरी और तीसरी विचारधाराओं से इसका मेल नहीं खाता। रूडोल्फ़ यूकेन (Rudolph Eucken) और शैलर मैथ्यूज़(Shailer Mathews) इस चौथे मत के प्रख्यात समर्थक हैं। विशेष भौगोलिक, आर्थिक और सामाजिक परिवेश में रहने के कारण एक व्यक्ति का जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण बन जाता है और धीरे-धीरे वही दृष्टिकोण सामान्य रूप धारण कर समाज की आत्माभिव्यक्ति का साधन बन जाता है। (५) ऐतिहासिक प्रति-पादन का एक रूप वह है जिसके अनुसार वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति मानव-संस्कृति का रूप, फलतः इतिहास की गतिविधि, निर्धारित करती है। एच० जी० वेल्स इस विचारधारा का एक प्रमुख प्रतिनिधि है। (६) नृतत्वशास्त्र ने भी मानव-इतिहास के निर्माण में अद्भुत योग प्रदान किया है। इस शास्त्र ने उस समय के इतिहास पर प्रकाश डाला है जो अलिखित है और जिसके फलस्वरूप कालगणना पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा है। साथ ही इस शास्त्र की खोजों के फलस्वरूप प्रान्तीयता और राष्ट्रीयता के संकीर्ण और सीमित दृष्टिकोण के स्थान पर एक सार्वभौम, सहिष्णु दृष्टिकोण का जन्म हो रहा है। मनुष्य के सांस्कृतिक विकास और विस्तार के मूल नियमों के प्रकाश में आने से ई० बी० टेलर, ज्युलियस लिपर्ट, एल० एच० मौर्गन, फ्रान्त्स बोअस (Franz Boas) आदि प्रसिद्ध लेखकों ने राजनीति के स्थान पर समग्र मानव-संस्कृति पर बल दिया है। लेस्ली ए० ह्वाइट तो इसे संस्कृति-विज्ञान (Culturology) के रूप में विकसित कर चुका है। (७) इसी के कुछ-कुछ निकट इतिहास-प्रतिपादन की समाजशास्त्रीय प्रणाली है। इस विचारधारा का

मूल स्रोत अरब के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक इब्न ख़ल्दुन की रचनाओं में माना जाता है। परवर्ती काल में काम्टे (Comte), स्पेंसर तथा अन्य लेखकों ने इसे विकसित किया। एफ़० एच० गिडिंग्स, एल० टी० हॉबहाउस, मैक्स वेबर, अल्फ़्रेड वेबर, पी० टी० सोरोकिन आदि इस विचारधारा के आधुनिक प्रतिनिधि हैं। इन लेखकों के मतानुसार एक समाज का उद्भव, संगठनात्मक विकास और क्रियाकलाप उसके भौतिक वातावरण, चेतन शक्ति और मनोविज्ञान के सम्मिलित प्रभाव पर निर्भर रहते हैं। यह विचारधारा संस्कृति-विज्ञान (६) के बहुत निकट है। (८) इतिहास-प्रतिपादन की अति आधुनिक एवं नवीनतम प्रणाली वह है जिसके अनुसार ऐतिहासिक विकास का कोई एक कारण नहीं होता। इसे बौद्धिक या 'समष्टिगत मनोवैज्ञानिक' सिद्धान्त कहते हैं। यदि किसी युग का इतिहास वास्तव में समझा जाना है तो वह तत्कालीन समष्टिगत मनोविज्ञान जाने बिना नहीं समझा जा सकता और इतिहास-लेखक का कर्तव्य है कि वह उन कारणों को, मूल तत्त्वों को खोजे और उनका मूल्यांकन कर उस युग के जीवन-सम्बन्धी समष्टिगत दृष्टिकोण पर प्रकाश डाले और यह बताए कि उस युग के जीवन ने अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए कैसा-कितना संघर्ष कर अपना विकास किया। इतिहास के प्रति इस प्रकार के दृष्टिकोण की सम्भावना काम्टे ने कर रखी थी। कार्ल लैम्प्रेख़्ट, क्रेन ब्रिटन, जे० एच० रैन्डॉल, एच० ई० बार्न्स आदि इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले लेखक हैं। एच० ई० बार्न्स कृत 'Intellectual and Cultural History of the Western World' इस दृष्टि से एक प्रौढ़ रचना मानी जाती है।

उपर्युक्त विचारधाराओं का अपना-अपना रूप अवश्य है, किन्तु इतिहास-लेखन-प्रणाली के सम्बन्ध में एक निष्कर्ष यह अवश्य निकलता है कि 'अतीत की राजनीति' ही इतिहास नहीं। राजनीति उसका थोड़ा-सा अंश है। ज्ञान की सभी विधाओं के समन्वित रूप से ही सच्चा इतिहास निर्मित हो सकता है। किन्तु यह कार्य अत्यन्त कठिन है। कठिन होने पर भी, उदाहरणार्थ, एच० जी० वेल्स और एच० ई० बार्न्स के प्रयास स्तुत्य माने जाते हैं। १९५५ ई० में संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी ज्यूलियन हक्सले और रैल्फ़ टर्नर के सम्पादकत्व में इस प्रकार का इतिहास प्रकाशित करने की योजना बनाई थी। समन्वय का कार्य कठिन होने पर भी इतना निश्चित माना जाता है कि भविष्य में इतिहास किसी एक विद्वान् द्वारा नहीं, ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के विद्वानों के परस्पर सहयोग से ही लिखा जा सकेगा। प्रत्येक देश में इस प्रकार के प्रयास हुए हैं और हो रहे हैं। सी० के० औग्डेन और एच० ई० बार्न्स सम्पूर्ण मानव-सभ्यता का इतिहास निर्मित करने की ओर प्रयत्नशील हैं। विद्वानों की सहिष्णुता और परस्पर एक-दूसरे को समझने की इच्छा से यह कार्य सम्पन्न हो सकता है। आधुनिक युग को समझने के

लिए, यद्यपि प्राचीन और मध्ययुगीन इतिहासों ने सामग्री प्रस्तुत की है, तो भी आज के इतिहास को समझने के लिए अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण ग्रहण किया जा रहा है। पिछले ७०-८० वर्षों में विकसित 'नव्य इतिहास' सभी सीमाएँ तोड़ चुका है और मानव-ज्ञान की सभी शाखा-प्रशाखाओं का वह उपयोग कर रहा है। मानव जाति के जन्म और विकास में जिन बातों ने सहायता पहुँचाई है उन पर ध्यान केन्द्रित किया जा रहा है। इतिहास जड़ नहीं है। नित नई सामग्री का उपयोग, उसका परीक्षण-विश्लेषण, उसका समन्वय कर इतिहास को गतिमान बना रहना है। मानव-समाज और समाज-विज्ञानों की निरन्तर परिवर्तनशीलता और प्रगति में उत्पन्न बौद्धिक क्रान्ति से इतिहास का अप्रभावित रहना असम्भव है।

●

## ४. भारत में आधुनिक इतिहास-लेखन-प्रणाली

मध्ययुगीन मुस्लिम इतिहास-लेखकों को छोड़ कर, भारत की इतिहास-लेखन की अपनी परम्परा प्राचीन और पौराणिक थी। किन्तु यूरोपीय इतिहास की भाँति भारतीय इतिहास में भी, इतिहास-लेखन की दृष्टि से, ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी का महत्वपूर्ण स्थान है। यह तो सर्वविदित है कि भारतीय सांस्कृतिक जीवन अनेक तत्त्वों के सम्मिश्रण से बना है। भाषा, साहित्य, संगीत, कला, धर्म, वेशभूषा, आचार-विचार आदि की दृष्टि से अनेक देशी-विदेशी जातियों ने उसके निर्माण, स्वरूप-गठन और विकास में योगदान दिया है। इनमें से भारत में आर्यागमन से पूर्व की भारतीय जातियों, स्वयं आर्यों, आर्येतर जातियों, मुसलमानों और अन्त में यूरोपियनों, विशेषतः अँगरेज़ों, के नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इतिहासविदों ने भारत और मुसलमानों के माध्यम द्वारा आर्य-इस्लामी संस्कृति के समन्वय-युग को मध्ययुग के नाम से तथा भारत और यूरोपीय संस्कृति के सम्पर्क-काल को आधुनिक युग के नाम से अभिहित किया है।

भारत में यूरोपीय संस्कृति का वपन-काल उन्नीसवीं शताब्दी है। इस शताब्दी से पूर्व यहाँ का जीवन मध्ययुगीन पौराणिक वातावरण में डूबा हुआ था। मध्ययुगीन जीवन यद्यपि वीर-दर्प-पूर्ण एवं उत्तेजनापूर्ण था, उस समय दो संस्कृतियों के सम्मिलन के परिणाम स्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रियाशीलता का जन्म हुआ था, तो भी तत्कालीन जीवन मन्द गति-पूर्ण और विस्तार-भार से बोझिल था। इस प्रवृत्ति के दर्शन उस समय की शबीह तथा चित्रकला के अन्य रूपों, इमारतों की पच्चीकारी तथा सजावट और हिन्दी की रीतिकालीन कविता में होते हैं। उसमें तेज़ी या त्वरित गति नहीं थी। ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम पचास वर्षों में जब राजनीतिक अस्तव्यस्तता, अराजकता और विशृंखलता उपस्थित हुई तो मध्ययुगीन जीवन की मन्द गति को अवरुद्ध होते देर न लगी। कहा जाता है कि एक बार शाहआलम ने किसी अँगरेज़ को खिलअत प्रदान की। उसके साथ जो हाथी दिया गया था, वह बीमार था। भारत के सम्राट् के लिए यह सचमुच शोचनीय परिस्थिति थी। किन्तु दान में दिया गया उसका हाथी यदि तत्कालीन जीवन का प्रतीक मान लिया जाए तो असंगत न होगा। हाथी अपनी

मन्द गति के साथ-साथ रोग भी धारण किए हुए हो, तब तो भगवान् ही रक्षक है।

मध्ययुगीन जीवन की तुलना में जीवन की उपर्युक्त परिस्थिति के बीच अवतरित उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय उपनिवेशवाद अपनी पूर्ण शक्ति के साथ देश में आया और शीघ्र ही उसका प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। एक व्यवसायात्मिका बुद्धि-सम्पन्न विदेशी कम्पनी ने धीरे-धीरे देश की राजनीति में अपना निश्चित स्थान बना लिया। सर्वप्रथम उसने आर्थिक क्षेत्र में अपने पैर जमाए। अपने आर्थिक हितों की रक्षा करने के लिए उसने सैनिक दल रखे और अन्ततोगत्वा वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राजनीति का नियन्त्रण करने लगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि अठारहवीं शताब्दी की अराजकतापूर्ण परिस्थितियों से उसने भरपूर लाभ उठाया। कम्पनी की बढ़ती हुई शक्ति के साथ-साथ ईसाई धर्म-प्रचारक आए जिन्होंने देश के धार्मिक जीवन को अपने अभियान का लक्ष्य बनाया। प्रारम्भ में उन्हें आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई। किन्तु उनके राजनीति-मिश्रित धर्म ने देशवासियों को शीघ्र ही सचेत कर दिया। वास्तव में आर्थिक शोषण और ईसाइयों के धर्म-प्रचार-कार्य ने देश में कटुता के बीज बोए। उन्नीसवीं शताब्दी में ही दो-तीन बार विदेशियों को देश से बाहर निकाल देने के प्रयत्न हुए, (वैलोर, वाहबी आन्दोलन, १८५७ का विद्रोह), किन्तु एक तो अपनी चरित्रगत दुर्बलताओं एवं दोषों और, दूसरे, विदेशियों की प्रबल संगठन-शक्ति और अनुशासन के कारण देश को सफलता प्राप्त न हो सकी। पैर जम जाने पर अँगरेज़ों ने अनेक शासन-सम्बन्धी सुधार किए। वणिक लोग शासक बन बैठे। मालगुज़ारी और टैक्सों के रूप में उन्होंने देश से अपार धन बटोरा। यहाँ के खनिज पदार्थों और प्राकृतिक साधनों पर उनका स्वत्व स्थापित हो जाने के कारण देशवासियों की अवस्था शोचनीय हो गई। किन्तु नवीन शिक्षा, प्रेस, रेल, तार जैसे नवीन आविष्कारों के प्रचार से देश का पाश्चात्य विचार-परंपरा और साहित्य के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ। देशवासियों में नवीन साहित्यिक, कलात्मक और शासन-सम्बन्धी आकांक्षाएँ उत्पन्न हुईं। यहाँ एक महत्वपूर्ण बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि जहाँ देश में एक ओर पाश्चात्य प्रभाव अत्यन्त तीव्रता से बढ़ रहा था, वहाँ दूसरी ओर अपनी प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं से, पुरातत्त्व विभाग के माध्यम द्वारा सामने आए प्राचीन कला के उदाहरणों से और विभिन्न स्थानीय साहित्यों के समृद्ध भांडारों से प्रेरणा ग्रहण करने के कारण देश का ध्यान अपने प्राचीन गौरव की ओर गया। लोगों को यह ज्ञात होते देर न लगी कि देश सदैव भू-लुंठित नहीं था, काल-गति से उसके बुरे दिन आ गए थे। जब यूरोप-निवासी बर्बर थे, जब वे पेड़ की छालों से बने वस्त्र पहनते थे और गुफाओं में रहते थे, उस समय भारतवर्ष सभ्यता के उच्च शिखर पर था। उन्हें भारतवर्ष 'विश्व-

गुरु' के रूप में दृष्टिगोचर होने लगा, एक ऐसे देश के रूप में दृष्टिगोचर होने लगा जिसका अपना एक ऐसा सन्देश था जिससे मानवता का कल्याण हो सकता था। यहीं से देश में 'पूर्व' और 'पश्चिम' का संघर्ष शुरू होता है। यह एक विचित्र ऐतिहासिक घटना है कि आधुनिकता के जन्म के समय से ही आधुनिक भारत का निर्माण ऐसे महापुरुषों द्वारा हुआ जो पाश्चात्य भौतिक दृष्टिकोण से, पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित होते हुए भी भारतीय आध्यात्मिक गरिमा और सन्देश भूल नहीं गए थे—राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द सरस्वती, बालगंगाधर तिलक, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, योगी अरविन्द, रमण महर्षि, मदनमोहन मालवीय, महात्मा गाँधी आदि। उन्नीसवीं शताब्दी में इस संघर्ष का परिणाम पाश्चात्य संस्कृति और शासकों के विरोध के रूप में प्रकट हुआ—१८५७ के विद्रोह के पीछे भी सांस्कृतिक कारण बताया जाता है। आर्य समाज आन्दोलन (१८७५) और इंडियन नेशनल काँग्रेस (१८८५) इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। संसार में अपना आध्यात्मिक सन्देश प्रदान करने के लिए देश ने राजनीतिक एवं आर्थिक दासत्व की शृंखला तोड़ना अनिवार्य समझा। संघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न सक्रियता ही भारतीय नवोत्थान के प्रथम चरण के नाम से अभिहित की जाती है। यह नवोत्थान अनेक परस्पर विरोधी तत्त्वों से निर्मित था और उसकी निश्चित परिभाषा देना कठिन है। किन्तु धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन और आध्यात्मिकता उसके प्रधान स्तम्भ थे। उसकी तुलना यूरोपीय नवोत्थान से अधिक न की जाकर आयर्लैण्ड के केल्टिक नवोत्थान से की जानी चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी की राष्ट्रीयता भी इस प्रारम्भिक नवोत्थानकालीन भावना से प्रभावित थी, उसमें भी धर्म और आध्यात्मिकता को स्थान प्राप्त था।

मध्ययुगीन जीवन की तुलना में जीवन की उपर्युक्त परिस्थितियों के बीच अवतरित उन्नीसवीं शताब्दी का अध्ययन करने पर दोनों के बीच स्पष्ट विभाजन-रेखा खींचना सरल कार्य हो जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी प्राचीन और नवीन का सन्धि-काल है और देश के बौद्धिक एवं सांस्कृतिक जीवन में एक नितान्त नूतन मोड़ प्रस्तुत करती है। पिछली शताब्दी का स्वाभाविक विकास होते हुए भी वह जीवन, कला और साहित्य को देखने और परखने के लिए ऐसी विचारधारा और ऐसे दृष्टिकोण को जन्म देती है जिसका अस्तित्व पहले कभी नहीं मिलता। क्योंकि, एक ओर तो भारतीय जीवन सुव्यवस्थित एवं सुदृढ़ शिक्षा-पद्धति के अभाव के कारण अनेक मध्ययुगीन कट्टर, गतिहीन, रूढ़िबद्ध, असामाजिक और अनुदार अन्धविश्वासों, कुरीतियों और कुप्रथाओं से भरा हुआ था, समाज में कूपमंडूकता का प्रचार था, उसकी सर्जनात्मक और नवनवोन्मेषशालिनी शक्ति और उच्च आकांक्षाओं और साहसिक प्रवृति का ह्रास हो गया था और भारतीय-इस्लामी

सभ्यता एवं संस्कृति का सूर्य अस्ताचलगामी हो चुका था, तो दूसरी ओर वह परम्परा और रूढ़िप्रियता तथा पौराणिकता का मोह छोड़ कर नवीनता की ओर बड़ी तीव्रता के साथ बढ़ रहा था जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भारतीय जीवन अपने दुर्दिन देख रहा था, तो भी वह नितान्त निष्प्राण नहीं हो गया था। उन्नीसवीं शताब्दी में वह अपनी शक्ति में लग गई ज़ंग साफ़ करने के लिए प्रयत्नशील हुआ। प्रयत्न की यह प्रक्रिया उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक आते-आते अपने तीव्र रूप में प्रकट होने लगी थी। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय जीवन में अभिव्यक्त यह प्रक्रिया उस महान् ऐतिहासिक क्रम का एक अंग थी जो उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ पूर्व से ही, प्रधानतः ऐंग्लो-सैक्सन सभ्यता के सम्पर्क द्वारा मिश्र, टर्की, अरब, इराक़, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, मलयद्वीप आदि समस्त पूर्वी संसार का जीवन स्पन्दित कर रहा था। यह क्रम साम्राज्यवादी अवश्य था और वह स्वार्थ-मुक्त कभी नहीं था, तो भी भारत ही नहीं, एशिया का सारा भूमि-भाग अपनी क्रियात्मक शक्ति का ह्रास हो जाने के कारण पश्चिम से प्रभावित हुए बिना न रह सका। हाँ, भारतवर्ष के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि एक प्राचीन तथा उच्च सभ्यता का उत्तराधिकारी और यूरोप से दूर होने के कारण वह दूसरा टर्की न बन पाया। यह एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य है कि पश्चिम की भौतिकता का धक्का खाते ही भारत अपने वास्तविक आध्यात्मिक जीवन का मूल्य समझ बैठा। भारत के नवीन शासकों ने फ़ोर्ट विलियम कॉलेज (१८००) के माध्यम द्वारा जिस नवीन शिक्षा का सूत्रपात किया था उससे भारतीय दृष्टिकोण में परिवर्तन हुए बिना न रह सका। तभी तो कॉलेज के संस्थापक मार्क्विस वेलेज़ली ने उसे एशियाई अज्ञानान्धकार के बीच प्रकाश-स्तम्भ के रूप में माना था। इस शिक्षा का प्रभाव प्रसारित करने में प्रेस तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों ने अपनी शक्ति का परिचय दिया। महत्व की बात यह है कि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का भारतीय जीवन पर अविश्वसनीय ढंग से तीव्र प्रभाव पड़ा। उसने जीवन एकदम झकझोर डाला। मशीनों, प्रेसों, तार, डाक, रेलों, ऐंजिनों आदि का प्रभाव तत्कालीन एक-दो पीढ़ियों में ही मालूम होने लगा था जिसके फलस्वरूप जीवन के मानदण्ड बदलने लगे थे। साथ ही पाश्चात्य विद्वानों ने देश के प्राचीन धर्म-शास्त्रों का विधिवत् सम्पादन किया। उन्होंने भारतीय भाषाओं और साहित्यों का परिश्रमपूर्वक अध्ययन कर नवीन आधुनिक शिक्षा की नींव डाली। फलतः पिछली मानसिक निष्क्रियता में स्पन्दन और तीव्र बौद्धिक आलोड़न-विलोड़न उत्पन्न हुआ। भारतवासी जाग उठे। जीवन में नई सम्भावनाएँ प्रत्येक मास, वर्ष और दशाब्द में दृष्टिगोचर होने लगीं। बाहर की दुनिया से परिचय प्राप्त करने, नवीन शिक्षा, प्रेस तथा पत्रकार-कला, यातायात के वैज्ञानिक साधनों के फलस्वरूप

देश का एक सूत्र में बद्ध हो जाने, स्त्री-शिक्षा के प्रचलित हो जाने आदि के कारण देशवासियों का दृष्टिकोण व्यापक और ऐक्य-सम्पन्न हुआ। यूरोप के औद्योगिक क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास, वहाँ के निवासियों का भूगर्भ में प्रवेश करने, समुद्र-तल तक पहुँचने तथा ऐसी ही अन्य रोमांचकारी कथाएँ भारतीय मन को उद्वेलित करने लगीं। यहाँ के निवासियों को मनुष्य-शरीर के सम्बन्ध में अनेक बातें मालूम हुईं। उन्होंने वैज्ञानिक आविष्कारों और मशीनों द्वारा मनुष्य को नवीन शक्ति अर्जित करते देखा, उसे पहले से अधिक शक्तिशाली बनते देखा। उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय जीवन में प्रेस और बारूद ने तो अपना प्रभाव दिखाया ही था, किन्तु कम्पास, दूरबीन आदि ने यह भावना भी उत्पन्न कर दी कि मनुष्य अपने चारों ओर की परिस्थितियों पर काबू पाने की क्षमता भी रख सकता है। वास्तव में कोपर्निकस, मिल, मोर्ले तथा अन्य यूरोपीय विद्वानों के विचारों ने भारतीय मध्ययुगीन जीवन की जड़ हिला दी। यही उन्नीसवीं शताब्दी का वास्तविक महत्व है, नहीं तो राजनीतिक उत्थान-पतन तो पहले भी हो चुके थे।

नित्य नए आविष्कारों और नवीन शिक्षा के युग में भारतीय मन का नई दिशाएँ खोजना स्वाभाविक था। अपनी प्राचीन समृद्ध संस्कृति का सम्बल लेकर उसने नवीन से प्रेरणा ग्रहण की। भौतिक दृष्टि से पश्चिम से अनेक बातें सीखने के साथ-साथ भारतवासी आत्म-मन्थन में प्रवृत्त हुए। इस आत्म-मन्थन का बीजारोपण तो उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ही हो गया था—राजा राममोहन राय उसके प्रतीक हैं। उत्तरार्द्ध में वह भली भाँति अंकुरित और पल्लवित हुआ जिसे भारतीय नवोत्थान के नाम से अभिहित किया जाता है।

भारत में अँगरेज़ी राज्य के अन्तर्गत आर्थिक शोषण, जाति और रंगभेद, मिशनरियों की धार्मिक संकीर्णता आदि से जीवन को बड़ी भारी क्षति पहुँची, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। किन्तु उसका एक दूसरा लाभपूर्ण पक्ष भी था। अन्य लाभों के अतिरिक्त प्राचीन वस्तुओं के संग्रह और संरक्षण की दृष्टि से देश को लाभ हुआ, अन्यथा न मालूम कितने बहुमूल्य ग्रन्थ और भव्य इमारतें नष्ट हो जातीं। अँगरेज़ों और उनके साथ कुछ देशी विद्वानों ने न केवल प्राचीन संस्कृति और हिन्दी साहित्य के ग्रन्थों की खोज की, वरन् प्रेस और नवीन शिक्षा के अन्तर्गत निर्धारित पाठ्यक्रमों के माध्यम द्वारा उन्हें सबके लिए सुलभ बनाया। अँगरेज़ों द्वारा स्थापित स्कूलों, कॉलेजों और यूनिवर्सिटियों में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के साथ-साथ भारतीय विद्याओं का पठन-पाठन भी होता रहता था। विद्या-व्यसनियों को साधारण ग्रन्थ तो उपलब्ध हुए ही, साथ ही अनेक लोकप्रिय और प्रसिद्ध व्यक्तियों के ग्रन्थ प्राप्त हो जाने से उनमें काफ़ी उत्तेजना और उत्साह का प्रसार हुआ। गड़ी हुई रत्न-राशि प्रेस जैसे वैज्ञानिक आविष्कार द्वारा बहुसंख्यक लोगों को प्राप्त हुई। प्रेस ने नवीन विचारों को फैलाने में ही

सहायता नहीं की, वरन् प्राचीन ऋषि-मुनियों के विचारों को उनके वास्तविक रूप में पहचानने का अवसर प्रदान कर उसने पौराणिकता, कर्मकाण्ड और कूपमंडूकता पर प्रबल आघात कर नवोत्थान की जड़ें मज़बूत कीं। अनेकानेक ग्रन्थों का लुप्त हो जाने से बच जाना देश के सांस्कृतिक जीवन के लिए बहुत बड़ी बात थी जो उन्नीसवीं शताब्दी में सम्पन्न हुई। ज्ञान-प्रसारण की दृष्टि से हस्त-लिखित पोथियों की अपनी सीमाएँ थीं। किन्तु अब उनकी आवश्यकता न रह गई थी। इसके अतिरिक्त नए शासकों द्वारा स्थापित पुरातत्त्व विभाग ने अनेक पुरानी इमारतों, मूर्तियों, सिक्कों तथा अन्य भग्नावशेषों की रक्षा की और जो चीज़ें संग्रहालयों में सुरक्षित हो सकती थीं उन्हें वहाँ स्थान दिया। उनके अध्ययन के फलस्वरूप भारत की कलात्मक एवं ऐतिहासिक परम्परा का एक सुसम्बद्ध रूप फिर से प्रकाश में आया। इन सब कारणों से अपनी प्राचीन संस्कृति पर देशवासियों को गर्व होना स्वाभाविक था। किन्तु साथ ही पश्चिम के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव से बचना भी कठिन था। फलतः संघर्ष उत्पन्न होना अनिवार्य था। इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी, संधिकाल होने के कारण, संघर्षों का युग है—धर्म के प्राचीन और नवीन रूपों में संघर्ष, राजनीति के क्षेत्र में देश-प्रेम और राज-भक्ति में संघर्ष—'राजा कृष्ण-समान' वाली भावना के फलस्वरूप—उच्च वर्ग और मध्यम वर्ग में संघर्ष—नवीन शिक्षा-प्राप्त मध्यम वर्ग तेज़ी के साथ प्रगति कर रहा था—विज्ञान और पौराणिक परंपराओं एवं अंधविश्वासों में संघर्ष, व्यक्तित्व और सत्ता में संघर्ष, और सर्वोपरि, पूर्व और पश्चिम में संघर्ष। अच्छा हुआ भारतीय जन को इतने संघर्षों का सामना करना पड़ा। उसके जीवन-मार्ग के झाड़-झंखाड़ साफ़ हो गए और एक सुन्दर प्रशस्त मार्ग दिखाई देने लगा। इस संघर्ष के फलस्वरूप धूल से दबी हुई घर की चीज़ों को साफ़ करने का, सुन्दर वस्तुओं के संग्रह करने का और जीर्ण वस्तुओं को फेंक देने का अवसर प्राप्त हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और स्वामी दयानन्द तथा आर्य समाज आन्दोलन इस संघर्ष की हिन्दी को सुन्दरतम देन हैं। पश्चिम के संक्रामक प्रभाव के कारण आत्म-हनन के लिए उद्यत देश की उन्होंने रक्षा की।

एक और महत्वपूर्ण तथ्य जो उन्नीसवीं शताब्दी के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है वह यह है कि इस समय देश में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का जन्म हुआ। विज्ञान की प्रयोगात्मक पद्धतियों द्वारा ज्ञान के विविध मार्ग खुले। विद्वानों ने प्राचीन इतिहास तथा संस्कृत साहित्य का अध्ययन तथा विश्लेषण करने की नवीन पाश्चात्य पद्धति ग्रहण की और एक ऐसी आलोचनात्मक विधि स्थापित की जो प्राचीनता के प्रति पूज्य या पौराणिक भाव से रहित थी, जिसका आधार सत्य तक पहुँचने की प्रबल आकांक्षा थी। देश में बिखरी हुई सामग्री के संग्रह, संरक्षण और परीक्षण से ज्ञान-संवर्द्धन हुआ। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान और उद्योग-धन्धों के

सम्बन्ध में जो पद्धतियाँ विकसित होकर भारतवर्ष आई थीं, उनका उपयोग इतिहास, साहित्य तथा संस्कृति के अन्य अंगों के लिए भी होने लगा। ऐसे ही नवजागरण-काल में भारतवासियों ने प्राचीन पौराणिक दृष्टिकोण के स्थान पर इतिहास-लेखन-सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण ग्रहण किया जो नवीन खोजों पर आधारित था। अब इतिहास के प्रति 'पूज्य भावना' न रह गई थी। इतिहास को ठीक-ठीक समझने और विश्लेषित करने की संकल्पात्मकता का उस समय जन्म हुआ। बीसवीं शताब्दी भारत की नवीन इतिहास-लेखन-परम्परा का वपन-काल उन्नीसवीं शताब्दी ही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके समकालीन अन्य अनेक हिन्दीभाषियों द्वारा लिखी गई जीवनियों और इतिहास-सम्बन्धी पुस्तकों और लेखों से इस बात का प्रमाण मिल जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लोग ज्ञान की तीव्र पिपासा शान्त करने और जीवन का परिष्कार करने के लिए आतुर हो उठे थे। वैज्ञानिक विधि से संवलित अदम्य बौद्धिक क्रियाशीलता उन्नीसवीं शताब्दी की अपनी विशेषता है। भारतीय जीवन में ऐसी क्रियाशीलता बहुत दिनों बाद देखने को मिलती है।

अतः ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में उपर्युक्त विविध कारणों से जो पुनरुत्थान की भावना और बौद्धिक जागरण उत्पन्न हुआ उससे विदेशी विद्वानों (उदा०, एल्फ़िन्स्टन, विन्सेन्ट स्मिथ, डॉडवेल, एस० सी० रॉबर्ट्स, गैरेट एण्ड टॉम्पसन आदि) के अतिरिक्त देशी विद्वानों(उदा०, रमेशचन्द्र दत्त, आर० सी० मजूमदार, डॉ० ईश्वरी प्रसाद आदि) ने भी भारतीय इतिहास को आधुनिक ढंग से जानने-समझने और उसका संस्कार करने की ओर ध्यान दिया। यद्यपि अनेक विद्वानों ने भारतवर्ष के सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक इतिहास निष्पक्ष दृष्टि से लिखे, तो भी अनेक अँगरेज़ लेखकों द्वारा लिखे गए इतिहासों में पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण और भारतवासियों के सामाजिक एवं धार्मिक विकास के सम्बन्ध में तटस्थ और न्यायपूर्ण दृष्टिकोण का अभाव पाया जाता है। ऊपर के कुछ अँगरेज़ इतिहास-लेखकों को अपवाद-स्वरूप मानकर यह कहा जा सकता है कि ज़्यादातर अँगरेज़ इतिहास-लेखकों ने अपने साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी दृष्टिकोणों से प्रेरित होकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि (१) भारतवर्ष कभी एक राष्ट्र नहीं रहा, उसकी राष्ट्रीय एकता अँगरेज़ों की देन है, (२) सामाजिक-धार्मिक दृष्टि से नहीं, राजनीतिक दृष्टि से भी मुसलमानों ने हिन्दुओं को पीड़ित किया, (३) हिन्दू-मुसलमानों में कभी एकता स्थापित नहीं हो सकती, (४) अपने और भारतवासियों के बीच काले-गोरे का भेद-भाव और भारतवासियों को हेय दृष्टि से देखना स्वाभाविक है, (५) हिन्दुओं और मुसलमानों में ही भेद-भाव नहीं है, वरन् वर्ण-व्यवस्था के आधार पर स्वयं हिन्दू वर्ग-विभाजित हैं। तात्पर्य यह है कि आर्थिक शोषण करते हुए उन्होंने साम्प्रदायिक, प्रतिक्रिया-

वादी, सामन्तवादी शक्तियों को प्रोत्साहन प्रदान कर, 'भेद-नीति' का आश्रय ग्रहण कर, अपनी राजनीतिक सत्ता सुदृढ़ बनाने पर ही अपने इतिहास-ग्रन्थों में ध्यान केन्द्रित किया। इसके विपरीत भारतीय विद्वानों ने भी भारतीय जीवन के अभावों, दोषों, त्रुटियों, कुत्सित प्रथाओं पर पर्दा डाल कर अतिरंजना और अतिशयोक्तिपूर्ण वृत्त प्रस्तुत किए और अपने दोषों की ओर दृष्टिपात न कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि भारतवर्ष के जीवन में जो आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि दुर्दशा दृष्टिगोचर होती है वह सब अँगरेज़ों और अँगरेज़ी राज्य के कारण है। उनका 'holier-than-thou-attitude' इतिहास में भी प्रतिबिंबित हुआ। साथ ही अँगरेज़ों के दासत्व से मुक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा और 'छिद्रान्वेषण' की प्रवृत्ति सीमा का अतिक्रमण कर गई। इन देशी-विदेशी लेखकों में वैज्ञानिकता और तटस्थता का अभाव था। अँगरेज़ लेखकों ने यदि अपने द्वारा स्थापित साम्राज्य की पुष्टि की, तो भारतीय लेखकों ने आत्म-सम्मान की और राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर इतिहास-ग्रंथों का प्रणयन किया। उनमें भी धर्म, संस्कृति, राजनीति और युद्ध-वर्णनों को मुख्य आधार बनाया गया। स्वतंत्र भारत में इधर 'राजनीतिक' दृष्टिकोण से प्रेरित होकर इतिहास को झुठलाने की कोशिश की गई है (जैसे पट्टाभिसीतारमैया, सुन्दरलाल, डॉ॰ ताराचन्द द्वारा लिखित भारत में अँगरेज़ी राज्य और स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास) जो बहुत वैज्ञानिक नहीं है। प्राचीन सामग्री, पुरातत्त्व विभाग की खोजों, प्राचीन हस्तलेखों, शिलालेखों, पट्टे-परवानों, अभिलेखों आदि के परीक्षण-विश्लेषण के उपरान्त शोधपरक इतिहास-ग्रन्थों का प्रणयन १८५७ ई॰ में बम्बई, मद्रास और कलकत्ता विश्वविद्यालयों और उनके बाद पंजाब, इलाहाबाद आदि विश्वविद्यालयों के इतिहास विषय के आचार्यों द्वारा प्रारम्भ हुआ। इस दृष्टि से भारतीय विश्वविद्यालयों का महत्वपूर्ण योगदान है। किन्तु इन आचार्यों ने इतिहास-लेखन-प्रणाली की दृष्टि से यूरोपीय पद्धति का अनुसरण किया। हमारे देश की अपनी निजी स्वतंत्र इतिहास-लेखन-प्रणाली का जन्म अभी नहीं हुआ। भारतवर्ष में अभी न तो इतिहास-लेखन-प्रणाली के पीछे गिनाए गए यूरोपीय सम्प्रदायों की भाँति विभिन्न सम्प्रदाय ही मिलते हैं और न अभी बूसे, मोनो, कार्ल लैम्प्रेख़्ट, एच॰ जी॰ वेल्स और एच॰ ई॰ बार्न्‌स, टॉयनबी, स्पेंग्लर जैसे इतिहास-दर्शन के चिन्तक और इतिहास-लेखक ही सामने आए हैं।

## ५. इतिहास : कला या विज्ञान

मानव-विकास को वास्तविक निश्चित विज्ञान के रूप में देखने वाले अँगरेज विद्वान् टॉमस हेनरी बकिल (१८२१-१८६२, 'History of Civilization') के मत का खण्डन करते हुए चार्ल्स किंग्सले और जेम्स ऐंथनी फ्रूड ने क्रमशः १८६० और १८६४ में तथा अन्य अनेक विद्वानों ने यद्यपि विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में इतिहास पर विचार किया था, तो भी आगे चल कर इस विषय ने कि इतिहास विज्ञान है या कला, यूरोप में पाण्डित्यपूर्ण वाद-विवाद को जन्म दिया। इस वाद-विवाद में भाग लेने वाले विद्वानों के नाम हैं--प्रोफ़ेसर जे० बी० बरी (१९०३), प्रोफ़े० डब्ल्यू० एस० जेवन्स, प्रोफ़े० जी० एम० ट्रेवेल्यन, लॉर्ड ऐक्टन, जे० जी० ड्रायसेन (जर्मनी, १८५८), ई० ए० फ्रीमैन(Methods of Historical Study, १८८६), ई० बर्नहाइम (जर्मनी, १८८९),सी० लैंग्ल्वा और सेनेबो (फ्रांस,१८९८), ई० मेयर(जर्मनी, १९०२),सी० जी० क्रम्प(The Logic of History, १९१९) आदि। प्रोफ़े० जे० बी० बरी ने यह मत व्यक्त किया कि इतिहास विज्ञान है, उससे न कम, न अधिक। किन्तु उनके तथा इतिहास को विज्ञान मानने वाले विद्वानों के मतों का खण्डन किया गया। खण्डन-मण्डन की इस प्रक्रिया में एक मत तो भौतिक सृष्टि का अध्ययन करने वाले प्रकृति-दार्शनिकों (Natural Philosophers) का था। यह सम्प्रदाय इतिहास को विज्ञान की कोटि में रखने के लिए एकदम तैयार नहीं है। वह इतिहास को विज्ञान से 'बहुत कम' मानता है। दूसरा सम्प्रदाय उन साहित्याभिरुचि-सम्पन्न विद्वानों का है जिन्होंने इतिहास को विज्ञान से 'बहुत आगे' का विषय बताया। उन्होंने इतिहास को कला घोषित किया और कहा कि इतिहास के अस्थि-पंजर में रक्त-मांस का संचार करने के लिए कवि-कल्पना, भावप्रवणता और आकर्षक शैली की आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि वैज्ञानिक तो शुष्क-नीरस प्राणी होता है, उसमें भावप्रवणता नहीं होती, वह जड़ पदार्थों का अध्ययन करता है और ऐसा व्यक्ति इतिहास के सचेतन प्राणियों का अध्ययन करने में सक्षम नहीं हो सकता।

इस वाद-विवाद के फलस्वरूप तीन सम्प्रदाय सामने आए—(१) इतिहास को विज्ञान मानने वाला सम्प्रदाय, (२) इतिहास को विज्ञान से 'बहुत कम' मानने

वाला सम्प्रदाय, और (३) इतिहास को विज्ञान से बहुत आगे का विषय मानने वाले साहित्याभिरुचि-सम्पन्न विद्वानों का सम्प्रदाय।

प्रोफ़े० टी० एच० हक्सले, डॉ० एलेक्स, प्रोफ़े० कार्ल पीअर्सन, प्रोफ़े० जे० टेगार्ट आदि विद्वानों द्वारा दी गई विज्ञान की परिभाषाओं को दृष्टिपथ में रखते हुए इतिहास को विज्ञान मानने वाले विद्वानों ने ये निष्कर्ष निकाले कि— (१) विज्ञान अपने प्रयोग द्वारा तथ्यों के समूह का सामान्यीकरण करता है और एक ऐसा नियम या सिद्धान्त स्थापित करता है जिसके अनुसार हम सामान्य परिस्थिति और एक घटना की निश्चित पुनरावृत्ति की घोषणा कर सकते हैं, (२) विज्ञान में प्रयोग, तर्क और प्रमाण रहता है, (३) विज्ञान तथ्यों का वर्गीकरण, उनका अनुक्रम और सापेक्षिक सार्थकता सिद्ध करता है और (४) विज्ञान किसी तथ्य में व्यक्त प्रक्रिया की विधिवत् खोज करता है। संक्षेप में, विज्ञान विधिबद्ध, संगठित, सूत्रबद्ध ज्ञान है। विज्ञान की कसौटी पर कस कर इन विद्वानों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि इतिहास विज्ञान है। जब लॉर्ड ऐक्टन ने इतिहास को विज्ञान न माना तो इन विद्वानों ने उनके मत का खण्डन करते हुए यह भी कहा कि यह ज़रूरी नहीं है कि विज्ञान का सामान्यीकृत सूत्रबद्ध नियम हमेशा सत्य ही सिद्ध हो। उदाहरणार्थ, मौसम-विज्ञान विज्ञान है। किन्तु सूर्योदय, ताप, आँधी-तूफ़ान, वर्षा, मौसम का हाल आदि की दृष्टि से यह विज्ञान प्रायः ग़लत सिद्ध होते देखा गया है। इसलिए जो भी विषय सत्य के उद्घाटन की ओर उन्मुख हो, जो सभी तथ्यों का आकलन कर उनकी प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के आधार पर निष्कर्ष निकाले, जो बिना किसी भावुकता और पूर्वाग्रह के तटस्थ रूप में आलोचनात्मक निर्णय दे और जो एकरूपता, वर्गों और नियमों या सिद्धान्तों के सरलीकरण की कोटि तक पहुँच जाए उसे निस्संकोच रूप से विज्ञान कहा जा सकता है। इसलिए इतिहास को विज्ञान की कोटि में न रखने का कोई कारण नज़र नहीं आता। वैज्ञानिकता की कसौटी पर इतिहास खरा उतरता है अर्थात् तथ्यों के आकलन के आधार पर सत्यान्वेषण, तर्कपूर्ण एवं आलोचनात्मक निर्णय, पूर्वाग्रहों से मुक्ति, मानव-स्वभाव के स्थायी गुणों और मनुष्य के पार्थिव वातावरण के स्थायी नियंत्रण की दृष्टि से इतिहास में कम-से-कम वैसी ही स्थिरता मिलती है जैसी रसायनशास्त्री के सन्दिग्ध परमाणुओं में और भौतिक-विज्ञानी के दुर्ग्राह्य विद्युदणुओं में। इतिहास का सम्बन्ध तत्त्वतः अपरिवर्तनीय मनुष्य से और तत्त्वतः अपरिवर्तनीय जीवन-परिस्थितियों से है।

इतिहास को विज्ञान न मानने वाले विद्वानों का कहना है कि इतिहास के तथ्य अनिश्चित और अनवधार्य होते हैं, उन्हें साक्षात् रूप में नहीं देखा जा सकता, इतिहास प्रयोगात्मक नहीं होता, इतिहास की प्रत्येक घटना अपने में अनोखी घटना होती है जिसकी किसी हालत में पुनरावृत्ति सम्भव नहीं है, फलतः

ऐतिहासिक घटनाओं का कोई निश्चित वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। इतिहास में वैज्ञानिक सिद्धान्तों या नियमों अथवा सामान्यीकरण का कोई स्थान नहीं। इतिहास के तथ्य अत्यधिक दुरूह होते हैं। इतिहास में क्या शाश्वत और महत्वपूर्ण है और क्या नहीं है, इस सम्बन्ध में स्वयं इतिहास-लेखक एकमत नहीं। इतिहास में दैवसंयोग से घटित घटनाएँ रहती हैं जिनसे ठीक-ठीक परिकलन और आगे आने वाली बातों को जान लेना असम्भव हो जाता है। क्योंकि प्रत्येक इतिहास-लेखक व्यक्ति होता है, व्यक्ति का व्यक्तित्व होता है, उसकी स्वेच्छा होती है, इसलिए इतिहास को विज्ञान की कोटि में रखना हास्यास्पद है। इसलिए प्रोफ़े० डब्ल्यू० एस० जेवन्स (Jevons) के शब्दों में 'A science of history, in the true sense of the term, is an absurd notion.'

साहित्याभिरुचि-सम्पन्न विद्वानों का दावा है कि इतिहास विज्ञान हो या न हो, वह निश्चित रूप से कला है। विज्ञान इतिहास का कंकाल मात्र प्रस्तुत कर सकता है, रक्त का संचार नहीं। कला से उसमें सप्राणता आती है। कवि-कल्पना ही उसे सजीव बना सकती है। एक कलाकार की प्रतिभा उसमें प्राण फूँक सकती है। इतिहास तभी प्रभाव ग्रहण कर सकता है जब वह सचेतन प्राणियों के क्रिया-कलाप का संवेदनशीलता के साथ निरूपण करे। ऐसे इतिहास की एक वैज्ञानिक की भावविहीन तटस्थता से तुलना नहीं की जा सकती। प्रो० जी० एम० ट्रेवेल्यन (Trevelyon) का कथन है :

"The man who is himself devoid of emotion or enthusiasm can seldom credit and can never understand the emotions of others."

निष्कर्ष यह है कि 'विज्ञान' और 'इतिहास' को लेकर यूरोप के विद्वानों में काफ़ी वाद-विवाद हुआ। उनके विचारों का अध्ययन करने के बाद यह कहना अनुचित न होगा कि 'विज्ञान' और 'इतिहास' दोनों शब्द ऐसे हैं जिनके अर्थ पूर्णत: स्पष्ट और निर्धारित नहीं हैं और जब तक इन दोनों शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ समझ न लिए जाएँगे तब तक इनके प्रयोग विविध रूपों में होते रहेंगे। इसलिए यही देखना आवश्यक है कि 'इतिहास' शब्द क्या द्योतित करता है। इस शब्द के बारीक अर्थ छोड़ कर 'इतिहास' शब्द के तीन अर्थ ग्रहण किए जा सकते हैं—(१) यद्यपि उपयुक्त तो नहीं है, तो भी 'इतिहास' शब्द का जो सामान्य अर्थ ग्रहण किया जा सकता है वह है—वास्तविक घटनाक्रम का रेकॉर्ड। इतिहास-निर्माताओं में, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, हम उन महापुरुषों की गणना करते हैं जिन्होंने मानव-जीवन को कोई नई दिशा प्रदान की। हम इतिहास के प्रभाव की बात पुस्तकों के आधार पर नहीं, काल-प्रवाह में परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न शक्तियों के आधार पर करते हैं, दुनिया के मामलों के लौकिक क्रम के लिए

क्योंकि कोई दूसरा उपयुक्त शब्द नहीं है, इसलिए हम उसके लिए 'इतिहास' शब्द का प्रयोग कर लेते अवश्य हैं, नहीं तो इस अर्थ में 'इतिहास' शब्द का प्रयोग अनुपयुक्त है। (२) 'इतिहास' शब्द का दूसरा प्रयोग उस अर्थ में होता है जिसके अन्तर्गत उसे दुनिया के मामलों के विकास की दिशा अथवा उसके एक अंश के विकास की दिशा का लेखाजोखा कहते हैं। 'इतिहास' शब्द का यह प्रयोग भी सामान्य है, किन्तु उचित प्रयोग है। इस अर्थ के अनुसार विभिन्न देशों के इतिहास हैं, कला का इतिहास है, विज्ञान का इतिहास है, साहित्य का इतिहास है। काल-गति के अनुसार जिन-जिन वस्तुओं और मानव-ज्ञान की जिन-जिन शाखा-प्रशाखाओं का विकास हुआ है और जिन्होंने अपने विकास के पग-चिह्न छोड़े हैं उन सबका 'इतिहास' लिखा जाता है। यद्यपि 'इतिहास' शब्द का यह प्रयोग उचित और लोक-प्रचलित है, तो भी इतिहास विज्ञान है या कला है, इस वाद-विवाद से उसके सम्बन्ध में कुछ उलझन पैदा हो जाती है। क्योंकि यदि इतिहास विवरण या वृत्तान्त है तो उसकी गणना साहित्यिक रचना के रूप में कला की भाँति की जानी चाहिए। उसके इस रूप के अन्तर्गत अँगरेज़ी में 'हिस्टोरिओग्रैफ़ी' कला है। (३) इससे इतिहास का तीसरा अर्थ स्पष्ट करने का कार्य सरल हो जाता है। अँगरेज़ी में 'हिस्ट्री' का मूल और व्युत्पत्तिपरक अर्थ है 'enquiry' अथवा 'learning by enquiry' अथवा 'knowledge gained by a process of enquiry', और इन सबके मूल में है 'छानबीन', 'खोज', 'अनवरत सत्यान्वेषण-क्रम'। इस अर्थ के अन्तर्गत इतिहास या तो विज्ञान है या फिर कुछ भी नहीं और यदि वह विज्ञान है तो किस प्रकार का विज्ञान है, वह किस बात को 'enquire' करता है, उसका निरूपित विषय क्या है, उसके उद्देश्य और साधन क्या हैं। 'हिस्टोरिओग्रैफ़ी' के इतिहास से इनमें से बहुत-सी बातों का स्पष्टीकरण हो जाता है, तो भी संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि—

(१) इतिहास नक्षत्र-विज्ञान, रसायनशास्त्र आदि की भाँति विज्ञान नहीं है। वह न तो प्रयोगशाला में अध्ययन करने का विषय है और न वह प्रत्यक्ष या साक्षात् रूप में दृष्टिगोचर होता है। वह 'विवेचन-विज्ञान' (Science of Criticism) है और भू-विज्ञान उसके निकटतम विज्ञान है। भू-विज्ञानी भूमंडल जैसा है उसका उसी रूप में अध्ययन कर इस बात का पता लगाते हैं कि वह अपनी वर्तमान अवस्था तक कैसे पहुँचा। इतिहास-लेखक भी वर्तमान की व्याख्या करने के लिए अतीत का अध्ययन करता है। मात्र गड़े मुर्दे उखाड़ना उसका उद्देश्य नहीं है। जिस प्रकार भू-विज्ञानी प्रकृति के क्षेत्र में युगों पहले हुए प्रयोगों के प्रमाणों के आधार पर अपने निष्कर्ष निकालता है, उसी प्रकार इतिहास-लेखक प्राचीन घटनाओं से संबंधित ऐसे अभिलेखों, प्रमाणों, परम्पराओं का आश्रय ग्रहण करता है जो काल-कवलित होने से बच गए हैं। वह उसके विज्ञान की मूलगत

सामग्री है। उनका महत्व अपने में उतना नहीं जितना कि उनसे मानव-मन के अपवर्तनीय साधन द्वारा कुछ बातों पर प्रकाश पड़ने में है। अपनी सामग्री में से भ्रमात्मक अंश निकाल देने और ठीक-ठीक तथा क्षेपकरहित तथ्य उपलब्ध कर लेने पर भी इतिहास-लेखक की खोज का अन्त नहीं हो जाता, क्योंकि सभी घटनाओं और स्मृति-चिह्नों के पीछे ऐसे विचार, इच्छा-शक्ति द्वारा प्रेरित कार्य, ऐसी भावनाएँ छिपी रहती हैं जिनकी ये घटनाएँ और स्मृति-चिह्न प्रतिबिम्ब मात्र होते हैं, जो मानव-चेतना के चरम रूप की भाँति होते हैं। मनुष्य की वैचारिक शक्ति, इच्छा-शक्ति, उसकी चेतना स्थूल रूप में दृष्टिगोचर नहीं होती। आज हमें ही उनका स्थूल रूप दृष्टिगोचर नहीं होता, वरन् उस युग को भी दृष्टिगोचर नहीं होता जिसके बीच घटनाएँ घटित होती हैं और स्मृति-चिह्न निर्मित किए जाते हैं। इसलिए 'इतिहास-लेखक' का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य की क्रिया-शक्ति, उसकी चेतना और चिरन्तन वास्तविकताओं की खोज करना है।

(२) इतिहास किस बात की खोज करता है ? उत्तर है, अतीत के उन सभी भग्नावशेषों और अभिलेखों की खोज करता है जो वर्तमान को समझने में सहायक होते हैं।

(३) इतिहास का अभिप्रेत विषय क्या है? उत्तर है, वैज्ञानिक अर्थ में इतिहास का कोई विषय नहीं होता, वह तो मात्र खोज-प्रणाली है। अन्तर्विषय प्राप्त करने के लिए उसे कोई-न-कोई विशेषण जोड़ लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ, राजनीतिक इतिहास स्टेट की पुरानी बातों से सम्बन्धित होता है। इसी प्रकार धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक इतिहास आदि होते हैं। मानव जाति के क्रियाकलाप से सम्बन्धित कोई विशेषण ऐसा नहीं है जिसके साथ इतिहास का सम्बन्ध स्थापित न किया जा सके। एक अँगरेज़ लेखक के शब्दों में—"The sphere of history is as wide as the sphere of human interests itself...Nothing that men do or suffer, make or destroy, lies outside the scope of historical investigation."

(४) ऐतिहासिक अन्वेषण का लक्ष्य क्या है ? वह है—वर्तमान को समझना। इतिहास की सामग्री वर्तमान में अपना अस्तित्व रखती है। नितान्त प्राचीन या अतीत के गर्भ में डूब गई सामग्री से उसका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रचलित विचारों और अन्तर्हितों के अनुरूप ही ऐतिहासिक जाँच-पड़ताल और खोज की जाती है। कोई भी इतिहास-लेखक अपने चारों ओर का वातावरण अपने से अलग नहीं रख सकता। उसे ऐसी कोशिश भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इतिहास-लेखक के रूप में उसका मूल उद्देश्य अपने को और अपने चारों ओर का वातावरण समझना है। प्रोफ़ेसर बेनेदेतो क्रोचे के अनुसार—'All history is contemporary history, and all true historians are willy-nilly

philosophers."

(५) विज्ञान के रूप में इतिहास की प्रणाली क्या है? इस सम्बन्ध में विभिन्न यूरोपीय विद्वानों के मतों का सार यह है कि इतिहास भौतिकीय विज्ञान की भाँति विज्ञान नहीं है। इतिहास प्रयोगशाला में देखा जाने वाला विज्ञान न होकर, विवेचना-विज्ञान है। जिस आधार-सामग्री का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उसका सम्बन्ध उन तथ्यों से है जो आज और अब विद्यमान हैं—आज और अब विद्यमान रहने वाले तथ्य भले ही अतीत के अनुस्मरण रूप में हों, या पुरानी चीज़ों के भग्नावशेष हों या विगत घटनाओं के परिणामस्वरूप हों। इतिहास का पहला काम इन अनगिनत तथ्यों का किसी चयन-सिद्धान्त के आधार पर संकलन करना है। चयन-सिद्धान्त के सम्बन्ध में इतिहास-लेखक एकमत नहीं हो सकते। किन्हीं भी दो इतिहास-लेखकों में किसी एक या दो समान बातों को महत्वपूर्ण न समझने की सम्भावना बनी रहती है। पुराने इतिहास-लेखक असामान्य, नाटकीय या वीर कृत्य की ओर अधिक आकृष्ट होते थे। वे त्रासद और उदात्त का साहित्यिक शैली में चित्रण करना पसन्द करते थे। आज का वैज्ञानिक इतिहास-लेखक अपने असंख्य तथ्यों में से केवल उन्हें चुनता है जिनसे उसे वर्तमान मानव-समाज का उद्भव और विकास समझने में सहायता प्राप्त होती है। यद्यपि इतिहास-लेखक विविध औज़ारों या उपकरणों, इमारतों, मृण्पात्रों, मृण्मूर्तियों, चित्रों, यहाँ तक कि मौखिक परम्पराओं से भी सहायता लेता है, तो भी लिखित सामग्री से प्राप्त तथ्य ही उसके प्रधान मूल स्रोत होते हैं—'Pas de documents, pas de histoire.' लिखित सामग्री से तथ्य संकलित करने के लिए भाषाविज्ञान, पुरालिपिशास्त्र और कूटनीति या व्यवहार-कुशलता के शास्त्रीय और वैज्ञानिक ज्ञान की अत्यधिक आवश्यकता होती है। उपलब्ध तथ्यों का प्रतिपादन-कार्य सबसे कठिन कार्य है। इसके लिए लिओपोल्ड फ़ॉन रैंके (१७९५-१८८६), फ़स्ते द कूलाँज़ (Fustel de Coulanges) जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। प्रतिपादन-कार्य के लिए एक वैज्ञानिक की कल्पना की ऊँची से ऊँची उड़ान के रहते हुए भी प्रामाणिकता की परिधि में रहना अत्यन्त आवश्यक है। वैज्ञानिक की कल्पना की यह उड़ान कूविए (Couvier) जैसी होनी चाहिए जिसने हड्डियों के कुछ अवशेषों के आधार पर बहुत पहले लुप्त हो गए प्रागैतिहासिक भीमकाय जन्तुओं का रूप पुनर्निर्मित कर दिखाया। अनेक ऐतिहासिक युगों से सम्बन्धित सामग्री इतनी विरल है, उनके सम्बन्ध में इतिहास-लेखकों की अनभिज्ञता, विश्वसनीयता, अविश्वसनीयता यह सब कुछ इतनी अधिक है, और उन युगों के निवासियों का रहन-सहन, आचार-विचार, वेशभूषा हमारे वर्तमान समय से इतनी अधिक भिन्न है कि हम केवल भावप्रवणता और बौद्धिकता के फलस्वरूप प्राप्त सहृदय कल्पना द्वारा ही उसका उपयुक्त प्रतिपादन कर सकते हैं।

# ६. इतिहास-लेखन की आधुनिकतम प्रवृत्ति

भारतीय और यूरोपीय लेखन-प्रणाली एवं इतिहास-दर्शन पर विहंगम दृष्टि डालने के उपरान्त तीन सम्प्रदाय उभर कर सामने आते हैं—(१) इतिहास की गतिविधियों को दैवी शक्ति या नियति या इतिहास-विधाता द्वारा प्रेरित होने में विश्वास रखने वाला सम्प्रदाय। फ्रेंच दार्शनिक बूसे ने कहा था कि प्रत्येक ऐतिहासिक घटना दैवेच्छा द्वारा प्रतिफलित होती है और मिज़्ने (Mignet) ने मानव-भावावेशों पर बल देते हुए ऐतिहासिक घटनाओं का सम्बन्ध प्रकृति की शक्तियों के साथ स्थापित किया। किन्तु दोनों नियतिवादी थे। दार्शनिक और 'मन्दिर के पुजारी' में कोई विशेष अन्तर नहीं था। बिस्मार्क ने भी कहा था: "We cannot make history; we must wait while it is being made" (१८६९)। इसी बात को 'The Song of Bernadette' नामक उपन्यास के लेखक फ्रैन्ज़ वर्फ़ेल (Franz Werfel) ने अपने एक कवि-पात्र (लैफ़ाइत) द्वारा अत्यन्त कलात्मक ढंग से इस प्रकार कहलाया है—

"I am no historian—and hence I don't overestimate history. It is nothing other than the refraction of eternal happenings in the water of the river of time. Each epoch sees objects assume different shapes in the mirroring stream. Whether Appollo or Christ, whether Diana or Mary—names and their scientific representational contents are but the changing names for a presence eternally felt by man."

(२) महान् व्यक्तियों द्वारा ऐतिहासिक गतिविधि निर्धारित होने में विश्वास करने वाला सम्प्रदाय। इतिहास में महान् व्यक्तियों का क्या स्थान है, इस विषय पर जर्मनी में काफ़ी चर्चा हुई। १८वीं शताब्दी के दार्शनिकों ने व्यक्ति पर अधिक बल दिया। किन्तु फ्रांसीसी दार्शनिक इस मत से सहमत नहीं थे। फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति ने यह सिद्ध कर भी दिया कि एक व्यक्ति कितना ही महान् क्यों न हो, सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से वह स्वयं प्रेरित होता है और ये परिस्थितियाँ ऐतिहासिक घटनाओं को प्रभावित करती हैं। (३) इस सम्प्रदाय का मत है कि इतिहास में परिवर्तन होते रहते हैं और इन परिवर्तनों के पीछे महान्

व्यक्तियों की शक्ति भी अवश्य निहित रहती है, किन्तु उनकी शक्ति से भी अधिक व्यापक एक और शक्ति होती है जो इतिहास की गतिविधि संचालित करती है। कार्लाइल ने महान् व्यक्तियों को 'beginners' कहा था। रूसी विचारक, जी० वी० प्लेखैनोव, ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में कार्लाइल के इस शब्द से सहमति व्यक्त करते हुए और कार्ल लम्प्रेख्ट, मोनो (Monod) तथा जर्मनी और फ्रांस के अन्य चिन्तकों के दृष्टिकोणों पर विचार करते समय यह स्थापित किया कि यद्यपि इतिहास में महान् व्यक्ति अपनी भूमिका का निर्वाह करते अवश्य हैं, तो भी वे अपने व्यक्तिगत गुणों के कारण नहीं, सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियों की प्रगति के वाहक बनने के कारण महान् कहलाते हैं। उन्हीं के शब्दों में : 'general historical circumstances are more potent than the strongest individuals'. उन्नीसवीं शताब्दी में ग्विज़ो (Guizot), ऑगस्ताँ थिअरी (Agustin Thierry) आदि इतिहास में सामाजिक-आर्थिक शक्तियों की ओर संकेत कर चुके थे। प्लेखैनोव ने उन पर गंभीरतापूर्वक विचार किया और 'शक्तियों' के अन्तस्संबंध पर बल देते हुए कहा—

"'. . . . by virtue of particular traits of their character, individuals can influence the fate of society, sometimes this influence is very considerable; but the possibility of exercising this influence, and its extent, are determined by the form of organisation of society, by the relation of forces within it. . . .' अर्थात् 'internal structure of the society' अथवा 'No matter what the qualities of the individual may be, they cannot eliminate the given economic relations if the latter conform to the given state of productive forces' अथवा 'Owing to the specific qualities of their minds and characters influential individuals can change the *individual features of events and some of their particular consequences, but they cannot change the general trend which is determined by other forces.*"

महान् व्यक्तियों का आविर्भाव भी इन्हीं शक्तियों के कारण होता है। उन्हें ऊपर उछाल देनेवाली ये शक्तियाँ उत्पादन के सामाजिक-आर्थिक क्रम में निहित रहती हैं। एक और बात जो स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती है वह यह है कि यद्यपि बीसवीं शताब्दी में इतिहास-दर्शन को अधिक व्यापक रूप प्रदान करने का सतत प्रयास हो रहा है, तो भी पूर्वाग्रहों से मुक्त, तटस्थ, निष्पक्ष और वैज्ञानिक दृष्टि से इतिहास अभी लिखा ही नहीं गया। भारत से बाहर अतीत-कालीन सामग्री के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बीज थूसीडाइड्स और पौलीबिअस की, मध्य युग में इब्न-खल्दुन और इब्न-ख़लीकन की, अठारहवीं शताब्दी में जर्मन-फ्रेंच लेखकों की और आधुनिक युग में इटली के मैक्यावली की रचनाओं में मिलता

है। किन्तु पूर्णरूप से विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण की कमी उनमें भी मिलती है। अभी तक जितने इतिहास-ग्रन्थ लिखे गए हैं उनमें या तो राजनीतिक, या धार्मिक, या राष्ट्रीय दृष्टिकोण की प्रमुखता पाई जाती है। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के समय राष्ट्र-प्रेम और अँगरेज़ों की साम्राज्यवादी, पूँजीवादी, उपनिवेशवादी नीति की निन्दा करने की दृष्टि से अनेक इतिहास-ग्रन्थों की रचना हुई। अनेक स्थलों पर उनमें अतिरंजना और तथ्यों की खींचतान, फलतः अवैज्ञानिकता, मिलती है। वास्तव में इतिहास-लेखक अपने को पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं रख सके। ठीक-ठीक विस्तृत तथ्य-संकलन और प्राप्त जानकारी की अपूर्णता के फलस्वरूप अनेक इतिहास-लेखकों की रचनाएँ इतिहास-ग्रन्थों की अपेक्षा कल्पना-प्रसूत कथा-ग्रन्थ जैसी मालूम होती हैं। यहाँ तक कि एक इतिहास-लेखक की ग़लती दूसरे इतिहास-लेखक दुहराते चले गए हैं और इस प्रकार अनेक ग़लत बातें इतिहास का अंग बन गई हैं। तो भी ईसा की अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दियों में यूरोप और भारत में मूल स्रोतों की खोज और मूल सामग्री का वैज्ञानिक विधि से किए गए सम्पादन-कार्य ने आधुनिक इतिहास-लेखन-पद्धति के विकसित होने की भूमिका तैयार की। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, मूल सामग्री या हस्तलिखित पोथियों के वैज्ञानिक परीक्षण-विश्लेषण, नवोदित राष्ट्रीय भावना, देशभक्ति आदि ने इँगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि यूरोपीय देशों के इतिहास-लेखकों को प्रेरणा प्रदान की थी और वहाँ के विद्वानों को कल्पना से काम लेने की प्रवृत्ति, प्रचारात्मकता, असत्य का सत्य के रूप में प्रचार और क़िस्से-कहानियों द्वारा दर्शन का प्रतिपादन करना आदि बातें खलने लगी थीं। उन्होंने (१) अनुचित उद्देश्य (२) इतिहास-लेखन की अपूर्ण धारणा और (३) निष्फल पद्धतियाँ, ये तीन ग़लत बातें दूर करने की चेष्टा की। धार्मिक या राजनीतिक प्रचारात्मकता से मुक्त न रहने के कारण वाल्तेयर और ह्यूम (History of England) की रचनाएँ अनुचित उद्देश्य के उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। इतिहास-लेखन की अपूर्ण धारणा ने रचनाओं को स्थानीय, वर्गीय, साम्प्रदायिक, वैयक्तिक और निरर्थकता से पूर्ण बना दिया और इतिहास अलग-अलग प्रान्तों, देशों आदि का इतिहास बन कर रह गया। मानव जाति का, या पूरे यूरोप का, या अन्य किसी पूरे महाद्वीप का इतिहास न लिखा जा सका। केवल राजनीतिक दृष्टि तक सीमित रहने के कारण, अथवा सम्राट्-सम्राज्ञियों, मंत्रियों, योद्धाओं आदि पर अधिक ध्यान केन्द्रित करने के कारण लेखकों ने उस मूल प्रेरक शक्ति की उपेक्षा की जिससे किसी युग विशेष का मन गठित होता है या जिससे जन-शक्ति उत्पन्न होती है। वास्तव में राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, कलात्मक आदि विविध आन्दोलनों के पीछे काम कर रही शक्तियों, आन्दोलनों की गतिविधि और उनके अन्तिम परिणाम के सांगोपांग अध्ययन के फलस्वरूप एक विशेष युग में जो वातावरण

उत्पन्न होता है उसका या महान् आन्दोलनों के मूल कारणों अर्थात् विचारों, भावनाओं और संकल्पात्मकता का अध्ययन कर ही सच्चा इतिहास लिखा जा सकता है। साथ ही इस प्रकार के अतीत के अध्ययन का मूल उद्देश्य वर्तमान को समझना होता है। ऐसा नहीं है कि यूरोपीय विद्वानों ने प्राचीन सामग्री का वैज्ञानिक परीक्षण-विश्लेषण कर सतर्कता न बरती हो, तो भी अधिकांश लेखक शोध-कार्य के मूलाधार—'कठोर परीक्षा किए बिना दूसरों का कहा हुआ स्वीकार न करना'—से अनभिज्ञ रहे। इतिहास-लेखन की तटस्थ, स्वतन्त्र लेखन-प्रणाली का विकास धीरे-धीरे ही हुआ जिसकी अन्तिम परिणति जर्मनी के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक लिओपाल्ड फ़ॉन रैन्के (Leopald von Ranke) में तथा फ्रांस, इँगलैण्ड, अमरीका, ऑस्ट्रिया, हंगरी, इटली, स्पेन, पुर्तगाल, स्विट्ज़रलैण्ड, बेल्जियम, हॉलैण्ड, डेनमार्क, स्वीडेन, रूस, पोलैण्ड और ग्रीस में उसका अनुसरण करने वालों में पाई जाती है। यद्यपि इनमें से कुछ लेखकों की रचनाओं में अतिरंजनापूर्ण विवरण उपलब्ध हो जाते हैं, तो भी अधिकांशतः उन्होंने पूर्वाग्रहों, कल्पनाशीलता, रंगीन दृष्टिकोण, सत्य के प्रति उपेक्षा-भाव से मुक्त होकर तटस्थ, निष्पक्ष, निर्वैयक्तिक निर्णय लेने और प्रामाणिकता की खोज पर बल दिया है। उनमें से अनेक ने प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री की खोज कर उसका संग्रह किया, उसका वर्गीकरण किया, उसकी तालिकाएँ तैयार कीं और इस प्रकार यूरोप के ग्रन्थागारों, भाण्डारों और पुस्तकालयों में भरी पड़ी उपेक्षित सामग्री प्रकाशित कर इतिहास-लेखन की वैज्ञानिक प्रणाली की नींव प्रशस्त की। उन्नीसवीं शताब्दी यूरोप में इस प्रकार का सर्वप्रथम वृहत् संकलन पेतीतो (Petitot) कृत 'Collections de memoires Relatif a Histoire de France' (फ्रांसीसी इतिहास से सम्बन्धित वृत्तों का संग्रह) माना जाता है। तत्पश्चात् जर्मनी, इँगलैण्ड, अमरीका आदि अन्य देशों और स्वयं फ्रांस में इस प्रकार के कई प्रयास या तो संस्थागत रूप में या व्यक्तिगत रूप में हुए। भारतवर्ष में अभी तक ऐसा कोई वृहत् प्रयास नहीं हुआ। स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारे देश में अनेक कमीशन (आयोग) बने हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश अभी तक ऐतिहासिक हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, वर्गीकरण और तालिकाएँ प्रस्तुत करने और परीक्षण-विश्लेषण करने वाला आयोग निर्मित नहीं हुआ। प्रामाणिक सामग्री संकलित करने का कार्य यूरोप में तो इतनी तेज़ी से आगे बढ़ा कि इतिहास-लेखक उतनी तेज़ी से उसका उपयोग न कर सके। उस अपार सामग्री का पूर्णरूपेण निरीक्षण करने में अपने को असमर्थ पाकर वहाँ विशिष्ट अध्ययनों की ओर प्रवृत्ति हुई और यह विशिष्टीकरण इतना अधिक बढ़ा कि ऐसे लेखकों को 'इतिहासकार' शब्द से सम्बोधित करने में संकोच किया जाने लगा। यह डर पैदा हो गया कि उनके साथ आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि विशेषण और इन विशेषणों के भी सूक्ष्म विशेषण न

जोड़े जाने लगें और इस अपार सामग्री के सम्यक् अध्ययन के अभाव में इतिहास-दर्शन ही कहीं लुप्त न हो जाए और लोग सम्पूर्ण वन को न देख कर अलग-अलग पेड़ों को देखने में ही उलझ कर न रह जाएँ।

इतिहास-लेखन की मूल सामग्री की खोज, संकलन, वर्गीकरण-विश्लेषण आदि वैज्ञानिक विधियों के अतिरिक्त इतिहास-लेखन की धारणा में एक और महत्व-पूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि वीर-पूजा या व्यक्ति-पूजा या सम्राटों-सम्राज्ञियों, ख्यातिप्राप्त राजनीतिज्ञों, उमरा आदि का यशगान करने के स्थान पर प्रजातंत्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद, पूंजीवाद, मनोविश्लेषणशास्त्र, विकासवाद, रोमांटिसिज़्म आदि महत्वपूर्ण विचारधाराओं या सामाजिक-आर्थिक परि-स्थितियों तथा लोक-प्रचलित आन्दोलनों के फलस्वरूप उभरे जन-जीवन का बहुमुखी पक्ष इतिहास में समेटा जाने लगा। १९वीं शताब्दी में, उदाहरणार्थ, विकासवाद के सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया गया और उसने दार्शनिकों और इतिहास-लेखकों दोनों को प्रभावित किया। प्रकृति, मानव-स्वभाव, समाज, राजनीति, धर्म आदि सभी कार्य-कारण की अटूट शृंखला से संचालित हुए माने गए। जेम्स स्टुअर्ट मिल, माल्थुस, रिकार्ड आदि ने विकासवाद का सिद्धान्त स्वीकार कर अपने-अपने मत प्रतिपादित किए थे। कार्लाइल की पद्धति छोड़ दी गई। किन्तु खोज-कार्य और विभिन्न विचारधाराओं का अध्ययन कर इतिहास लिखने में सतर्कता बरतने की आवश्यकता थी। १८९५ में लॉर्ड ऐक्टन वैचारिक आन्दोलनों के अध्ययन पर बल दे चुके थे। उदाहरण के लिए, फ़्रांसीसी राज्यक्रान्ति का इतिहास लिखने के लिए वहाँ के अठारहवीं शताब्दी के बौद्धिक आन्दोलनों का अध्ययन करना आवश्यक समझा गया। लॉर्ड ऐक्टन के मत का खण्डन एक ओर मार्क्सवाद का अनुसरण करने वाले समाज-वादियों द्वारा हुआ, तो दूसरी ओर, लाइपज़िग के कार्ल लम्प्रेख़्ट सम्प्रदाय के सामाजिक-मनोविज्ञानवादियों द्वारा मानव-स्वभाव और मानव के अवचेतन पर बल दिए जाने के रूप में हुआ। किन्तु इतिहास-दर्शन के गम्भीर मनीषियों का यह मत रहा है कि मानव-समाज के विकास में अनेक विभिन्न शक्तियाँ काम करती रहती हैं जिनमें चरित्र (character) और विशेषत: परिस्थितियाँ (circumstances) भी अपनी-अपनी भूमिका निभाती हैं। उनके मतानुसार मनुष्य के क्रिया-कलाप में न तो उसकी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति कार्य करती है और न नियतिवाद (determinism) ही। मनुष्य के विचारों (ideas) और अहेतुक मनोवेगों (irrational impulses), आत्मा और शरीर दोनों से ही मानव-जीवन की वास्तविकता का निर्माण होता है। एक की व्याख्या दूसरे से नहीं की जा सकती।

× × ×

वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास-लेखक मूल स्रोत और शोध-प्रविधि में इतने संलग्न हो गए थे कि वे इतिहास का वास्तविक रूप भूल गए। बीसवीं शताब्दी में इतिहास का क्षितिज इतना व्यापक हो गया है कि उन्नीसवीं शताब्दी की इतिहास-लेखन-प्रणाली उसके सामने महत्वपूर्ण मालूम नहीं होती—हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आधुनिकतम प्रणाली की नींव १८-१९वीं शताब्दियों में ही रखी गई थी। यह तत्कालीन सामाजिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक और औद्योगिक क्रान्ति (१७५०) के बाद की प्रगति के कारण सम्भव हो सका था। बीसवीं शताब्दी में बौद्धिक तटस्थता प्रधान हो गई है। प्राचीन मिथक-कथाओं, पौराणिक गाथाओं और दार्शनिक विवेचन का स्थान ऑगस्टाइन से बूसे तक के काल में युगान्त-विज्ञान (eschatology) ने ग्रहण किया। यूरोप के भौगोलिक विस्तार के फलस्वरूप पिछले बुद्धिवादी दृष्टिकोण को आघात पहुँचा और एक नई व्याख्यात्मक एवं तर्काश्रित प्रणाली का जन्म हुआ जिसका प्रतिनिधित्व बेकन, डेस्कार्टीज़, वॉलतेयर, ह्यूम ने किया। यह प्रणाली ही अन्ततोगत्वा काण्ट, फ़िख्टे और हेगेल के आदर्शवाद में परिणत हो गई। फ़्रांसीसी राज्यक्रान्ति और सामन्तवाद के स्थान पर मध्यम वर्ग के जन्म के फलस्वरूप उत्पन्न राष्ट्रीय भावना ने इतिहास-लेखन में एक नया आयाम जोड़ा। किन्तु बीसवीं शताब्दी में ज्ञान के, एक नहीं, सभी क्षेत्रों में हुई प्रगति के समन्वित रूप द्वारा इतिहास का निर्माण करने की चेष्टा की जा रही है—यही कठिन काम है और इसीलिए कहा गया है कि इतिहास जड़ नहीं होता। ज्ञान के विविध क्षेत्रों के परस्पर सहयोग के बिना अब इतिहास नहीं लिखा जा सकता—

"The 'new history' is escaping from the limitations formerly imposed upon a study of the past. It will come in time consciously to meet our daily needs; it will avail itself of all those discoveries that are being made about mankind by anthropologists, economists, psychologists and sociologists—discoveries which during the last 50 years have served to revolutionize our ideas of the origin, progress, prospects of our race. . . . History must not be regarded as a stationary subject which can only progress by refining its methods and accumulating, criticising and assimilating new material, but it is bound to alter its ideals and aims with the general progress of society and the social sciences, and it will ultimately play an infinitely more important role in our intellectual life than it has hitherto done."—जेम्स हार्वे रॉबिन्सन

खण्ड : २

# साहित्येतिहास

## ७. साहित्येतिहास में साहित्य और जीवन

इतिहास के जिस स्वरूप-विकास और आधुनिकतम प्रगति पर पिछले पृष्ठों में विचार किया गया है उससे साहित्येतिहास को समझने में सहायता प्राप्त होती है। दोनों पर साथ-साथ विचार करने का मुख्य कारण यही है कि साहित्येतिहास को इतिहास-प्रणयन की आधुनिकतम प्रणाली के समानान्तर रखा जा सके। इतिहास की आधुनिक प्रगति का आशय किसी एक धर्म, किसी एक जाति, किसी एक राष्ट्र का इतिहास नहीं, वरन् मनुष्य के आधुनिकतम संचित ज्ञान-कोश के आधार पर मानव मात्र का वर्तमान समझना है, उसकी चेतना का ऊर्जस्वी रूप समझना है। साहित्येतिहास भी मनुष्य की उस चेतना की पहचान है जिसके बल पर घास का एक कोमल अंकुर भी सिर ऊँचा कर पत्थर से बाहर निकल आता है। पीछे इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि इतिहास के विभिन्न उपकरण और साधन अपने में उतने महत्वपूर्ण नहीं जितना उनसे मानव-मन के अपवर्तनीय साधन द्वारा कुछ बातों पर प्रकाश पड़ने में है। इतिहास-लेखक की खोज का अन्त तब होता है जब वह सभी घटनाओं और स्मृति-चिह्नों तथा प्रमाणों के पीछे छिपी मानव-चेतना का रूप पहचानता है। साहित्येतिहास कोरा वृत्त-संग्रह, तिथि-निर्धारण, ग्रन्थ-सूची, आलोचना, प्रवृत्ति-विवेचन, रूपात्मक विकास नहीं है। उसकी भी अपनी शोध-प्रविधि है, और वह आधुनिकतम शोध-साधनों और वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग करता है। किन्तु इन तथा ऐसी ही अन्य बातों से उसका वास्तविक रूप नहीं उभरता। ज्ञान की सभी आधुनिकतम शाखा-प्रशाखाओं का उपयोग करते हुए साहित्येतिहास को भी मनुष्य की विचार-शक्ति, उसकी भावनाओं, उसकी क्रिया-शक्ति, इच्छा-शक्ति, वैचारिक शक्ति, उसकी चेतना और चिरन्तन वास्तविकताओं की खोज करनी है। जेम्स हार्वे रॉबिन्सन का पीछे उद्धृत कथन बहुत-कुछ साहित्येतिहास पर भी लागू होता है। साहित्येतिहास के इस रूप पर विचार करने से पूर्व कुछ बातों पर विचार करना आवश्यक है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में प्राय: ललित साहित्य पर ही विचार किया गया है, किन्तु कुछ इतिहास-ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनमें ज्ञान-वर्द्धक साहित्य को भी

इतिहास का विषय बना लिया गया है। मानव-समाज के सम्पूर्ण संचित ज्ञान-कोश को 'साहित्य' शब्द के अन्तर्गत स्वीकार कर लेने का आशय 'साहित्य' शब्द को उसके व्यापकतम अर्थ में ग्रहण करना होगा। इस व्यापकतम अर्थ के अन्तर्गत हिन्दी के कुछ साहित्येतिहास-ग्रन्थों में प्रकृति-विज्ञान, रसायनशास्त्र, भौतिकी, ज्यामिति, प्राणिविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र आदि विषयों को भी स्थान मिल गया है। किन्तु साहित्येतिहास को 'साहित्य' की इतनी व्यापक परिभाषा पर आधारित करना अनावश्यक ही नहीं, अवैज्ञानिक भी है। संसार के सभी श्रेष्ठ साहित्येतिहास-ग्रन्थों में 'साहित्य' को इतने व्यापक अर्थ में ग्रहण न कर उसके विशिष्ट अर्थ में ही ग्रहण किया गया है। विशिष्ट अर्थ से तात्पर्य है 'ललित' साहित्य। 'साहित्य' की अनेक परिभाषाएँ हैं, उसकी कोई एक निश्चित परिभाषा देना कठिन है। राजनीतिक दृष्टिकोण से भी वे अछूती नहीं रहीं और पाण्डित्याभिमानी व्यक्तियों ने उन परिभाषाओं की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, भाष्य, उपभाष्य किए हैं, तो भी साहित्येतिहास को साहित्य के उसी रूप तक सीमित रखना चाहिए जिसका सम्बन्ध हमारे हृदय से, भावनाओं एवं अनुभूतियों से है, जिससे हमारी भाव-परिधि निरन्तर विस्तृत होती जाती है, जो रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है, जिससे साधारणीकरण, या वर्तमान शब्दावली का प्रयोग करते हुए, 'सम्प्रेषणीयता' का जन्म होता है। यही 'ललित' साहित्य है जिसके लिए प्राचीन भारत में 'काव्य' शब्द का प्रयोग हुआ। भर्तृहरि की प्रसिद्ध पंक्तियों—'साहित्य-संगीत-कलाविहीनः···' में 'साहित्य' शब्द का 'काव्य' के पर्यायवाची रूप में प्रयोग हुआ है, क्योंकि शब्द और अर्थ की परस्पर सामंजस्यपूर्ण स्थिति काव्य में ही सम्भव है। 'साहित्य' के धातुगत अर्थ पर विचार करने से उसका स्वरूप बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है। धातुगत अर्थ ऐसा है जिसके सम्बन्ध में कहीं भी बहुत अधिक मतभेद नहीं हो सकता। 'सहित' में आकारत्व आदि के साथ 'य' प्रत्यय के योग से 'साहित्य' शब्द बना है। आचार्य भामह ने अपने 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में कहा है—'सहितस्य भावः साहित्यम्' अर्थात् जिसमें सहित का, मिलने का, भाव हो, उसे 'साहित्य' कहते हैं। 'सहित' का भाव स्पष्ट करते हुए भामह ने लिखा है—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्', अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ का सामंजस्य हो। इसी को राजशेखर (१०वीं शताब्दी) ने 'काव्य-मीमांसा' में इस प्रकार कहा है—'शब्दार्थ योर्यथावत्सह-भावेन विद्या साहित्यविद्या'। आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' में 'साहित्य-मनयोः शोभाशालितां प्रतिकाप्यसौ। अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः (शब्द और अर्थ दोनों की न्यूनातिरिक्त, आपस में स्पर्द्धा सहित, मनोहर रूप में श्लाघनीय स्थिति को साहित्य कहते हैं) कहा है। साहित्य के माध्यम द्वारा केवल भाव का भाव के साथ तथा भाषा का भाषा के साथ ही मिलन नहीं होता, वरन्

मानव का मानव के साथ, अतीत का वर्तमान के साथ, बाह्य का अन्तर के साथ मिलन होता है। काव्य को रसात्मक काव्य या रमणीयार्थ प्रतिपादक या लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने वाला मानने के पीछे भी यही दो हृदयों के योग की भावना है। 'रसो वै सः' से अधिक मिलन की भावना और क्या हो सकती है?

यूरोप में इस विविध रूपात्मक जगत् और मनुष्य के मन-मस्तिष्क के घात-प्रतिघात के फलस्वरूप साहित्य की सृष्टि मानी गई है। मनुष्य इस विविध रूपात्मक जगत् के सुन्दर-असुन्दर पदार्थों को ज्यों-का-त्यों ग्रहण नहीं करता। उसकी भोगवृत्ति प्रत्येक पदार्थ को अपनी कल्पना के रंग में रँग कर सौन्दर्य और असाधारणत्व प्रदान करती है। जिस प्रकार यह समस्त चराचर जगत् ब्रह्मा की मानसी सृष्टि माना जाता है, उसी प्रकार साहित्य मनुष्य की मानसी सृष्टि है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने संस्कारों और जीवन के चारों ओर की परिस्थितियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के अनुसार कल्पना का प्रयोग करता है। यदि उसमें अभिव्यंजना शक्ति भी साथ-साथ हुई तो वह साहित्य-स्रष्टा बन जाता है। यूरोप में साहित्य ललित कलाओं में से एक महत्वपूर्ण कला-रूप माना गया। सिसरो (१०६-४३ ई० पू०) ने कहा था कि सभी कलाएँ मूलतः परस्पर सम्बद्ध हैं। यूनानियों ने ये मूल सिद्धान्त अन्विति, सन्तुलन, सानुपातिकता और सामंजस्य के रूप में स्थापित किए थे। ये सिद्धान्त प्रकृति से ग्रहण किए गए थे। जहाँ ये सिद्धान्त नहीं होते वहाँ विश्रृंखलता दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य उस महान् अव्यक्त कलाकार के पद-चिह्नों पर चलने की चेष्टा करता है, क्योंकि वह अव्यक्त कलाकार प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है।

सामान्यतः 'साहित्य', 'कविता', 'कल्पना', 'सौन्दर्य' आदि शब्दों का प्रयोग शिथिल रूप में होता रहता है। इतना निश्चित है कि सभी मुद्रित सामग्री साहित्य नहीं है। मनुष्य के लिए स्थायी मूल्य की रचनाएँ ही साहित्य के अन्तर्गत मानी जाती हैं। किन्तु मनुष्य के लिए स्थायी मूल्य तो गणित की तालिकाओं में, एक वकील की कानूनी किताबों में, बीजगणित, मनोविज्ञान, भूगर्भ विद्या से सम्बन्धित अनेक रचनाओं में, आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद के सिद्धान्त आदि में भी है। किन्तु उन्हें साहित्य के अन्तर्गत नहीं माना जाता। इसके विपरीत बच्चों पर या बच्चों के लिए लिखी गई छोटी-छोटी कविताएँ साहित्य के अन्तर्गत परिगणित होती हैं। एक में गंभीर सत्य है, दूसरे में हल्की-फुल्की सुन्दर रचनाएँ हैं। तब भी ये हल्की-फुल्की सुन्दर रचनाएँ साहित्य मानी जाएँगी, वकील की मोटी-मोटी कानूनी किताबें नहीं। एक में स्थायी सत्य है, तो हल्की-फुल्की रचनाओं में अपने में स्थायित्व है। गणित, कानून आदि के ग्रन्थों में स्थायी मूल्य का सत्य अवश्य है, किन्तु ये ग्रन्थ अपने में स्थायी नहीं हैं। उनका सत्य तो बच रहता है, वे स्वयं लुप्त हो जाते हैं। कुछ दिन बाद उनका स्थान दूसरे ग्रन्थ ग्रहण कर लेते हैं। आज न्यूटन के गुरुत्वा-

कर्षण के सिद्धान्त का मूल रूप खोजने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध है। साहित्य में एक ग्रन्थ का स्थान दूसरा ग्रन्थ ग्रहण नहीं कर सकता। 'कामायनी' और 'साकेत' का परिवर्द्धित-संशोधित संस्करण नहीं हो सकता। तो प्रश्न उठता है कि एक साहित्यिक ग्रन्थ का निजी महत्व किस प्रकार स्थापित होता है? उत्तर है—साहित्यकार के व्यक्तित्व से। तो क्या साहित्यकार का व्यक्तित्व प्रदर्शित करने वाली प्रत्येक रचना साहित्य है? सम्भवतः नहीं। धर्मशास्त्र पर लिखी गई पुस्तक में भी उसके रचयिता का व्यक्तित्व निहित रहता है और फिर, प्रश्न उठता है व्यक्तित्व कैसे व्यक्त होता है? एक कविता कवि के व्यक्तित्व का प्रकाशन है, एक वैज्ञानिक रचना नहीं, ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए है कि कविता में मनुष्य के मूल और चिरन्तन भाव उद्वेलित करने की शक्ति है, वैज्ञानिक रचना में बुद्धि को थोड़े समय के लिए उद्वेलित करने की शक्ति है। इसलिए कविता में स्थायित्व है, फलतः वह साहित्यिक रचना है। इसी से उसका निजी विशिष्ट व्यक्तित्व है। भाव ही किसी कृति को स्थायित्व प्रदान करते हैं। ज्ञान जो एक बार प्राप्त कर लिया जाता है हमेशा काम आता है। मनुष्य भाव-विभोर थोड़ी ही देर के लिए होता है। भाव की सत्ता क्षणिक होने के कारण उसे बार-बार कविता पढ़ कर तरोताज़ा बनाया जाता है। किसी कृति को यदि साहित्यिक कोटि में रहने का अधिकार है तो वह बार-बार पढ़ी जानी चाहिए, उसका आनन्द बार-बार उठाया जाना चाहिए। वह शाश्वत है। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, तुलसी, 'प्रसाद', मैथिलीशरण गुप्त आदि की रचनाओं में भाव-विभोर कर देने वाले अंश होने के कारण हम आज भी उनका आनन्द उठाते हैं, इसलिए उनमें चिरन्तनता है, इसलिए वे साहित्य हैं। सी० वी० रमन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों में यह बात नहीं है। सी०वी० रमन पुराने पड़ जाएँगे; वाल्मीकि, कालिदास आदि नहीं, क्योंकि वे भाव उद्दीप्त करते हैं। वे प्रेम, क्रोध आदि मनुष्य के मूल भाव जगाते रहते हैं। ये भाव ही भाषा द्वारा व्यक्त होकर रचनाकार का व्यक्तित्व उजागर करते हैं। वैज्ञानिक तथ्य (२ + २ = ४, या सीधी लकीर की परिभाषा) बदलते नहीं। अन्तरिक्ष या सौर-मण्डल के संबंध में हम समान रूप से सोचते हैं। अंतरिक्ष या सौर-मण्डल जो भाव जाग्रत करते हैं उनकी प्रतिक्रिया सब प्राणियों में समान नहीं होती। तथ्यों के साथ जब भाव सम्बद्ध हो जाते हैं तो वे लोकोत्तर आनन्द उत्पन्न करते और साहित्य को स्थायित्व प्रदान करते हैं। इसी से साहित्य जीवन की व्याख्या बन जाता है। जीवन भावों द्वारा संचालित होता है, वैज्ञानिक तथ्यों द्वारा नहीं। भावों से साहित्य और पाठकों में रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है। उनमें चिर नवीनता रहती है। लेकिन साहित्य और विज्ञान एक-दूसरे के बिल्कुल विरोधी हों, ऐसा भी नहीं है। चन्द्रलोक की यात्रा करने वाले कई

अन्तरिक्ष-यात्री कवि बन गए बताए गए हैं। शर्त यही है कि वैज्ञानिक तथ्य में भावोद्रेक की शक्ति हो। सभी ललित कलाओं के सम्बन्ध में यही बात कही जा सकती है। भावों के साथ कल्पना का योग सोने में सुहागे का काम करता है। इसी प्रकार भावों और कल्पना के पीछे यदि वैचारिकता न हो तो साहित्य अनर्गल प्रलाप जैसा हो जाएगा। इन सबके अतिरिक्त साहित्य में भाषा, शब्द-शक्ति आदि से साहित्य निर्जीव पदार्थ में प्राण फूंक देता है। वास्तव में भावोद्रेक, कल्पना, वैचारिक आधार और अभिव्यंजना-शैली, इन चारों के मिश्रण से ही कोई रचना ललित साहित्य की कोटि में आती है। इन चारों को लेकर विद्वानों ने अन्य कई समस्याओं पर विचार किया है जिनका उल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। (जैसे भावोदय पाठक में होता है या साहित्यकार में या कल्पना के द्वारा, साहित्य के विविध रूपों में उनका निरूपण किस प्रकार होता है, कल्पना का वास्तविक रूप क्या है और उसका साहित्य में क्या स्थान है, साहित्य में बुद्धि-तत्त्व से क्या तात्पर्य है, साहित्य का सत्य और यथार्थ क्या है, आदर्श क्या है, साहित्य-रूप और शैली का परस्पर क्या सम्बन्ध है, आदि।)

इन्हीं बातों को एक दूसरे प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। यूरोप में 'लिट्रेचर' शब्द के दो अर्थ ग्रहण किए गए—एक व्यापक और दूसरा विशिष्ट। डि क्वेन्सी के अनुसार (१) 'लिट्रेचर ऑव नॉलेज' (ज्ञानवर्द्धक साहित्य) और (२) 'लिट्रेचर ऑव पावर' (शक्ति या भावशक्ति-सम्पन्न साहित्य) में अन्तर है। पहले का सम्बन्ध हमारी बुद्धि से है और वह 'लिट्रेचर' का व्यापक अर्थ है। दूसरे के अनुसार साहित्य में हमें उल्लसित कर देने की शक्ति होती है और उसका सम्बन्ध हमारे हृदय से होता है अर्थात् भावों से होता है। अपने व्यापक अर्थ में वह किसी भी विषय से सम्बन्धित मुद्रित ग्रन्थ का द्योतन करता है और सभी प्रकार का ज्ञान-वर्द्धक पुस्तक-समूह उसके अन्तर्गत आ जाता है। विशिष्ट अर्थ के अन्तर्गत साहित्य में भाव, अनुभूति, कल्पना का योग रहता है। यही विशिष्ट साहित्य, विशुद्ध या ललित साहित्य कहा जाता है और संसार के सभी देशों में साहित्येतिहास का विषय यही ललित साहित्य रहा है। यद्यपि आज हम केवल मुद्रित ग्रन्थों को ही इस प्रकार के साहित्य के अन्तर्गत रखने के अभ्यस्त हो गए हैं, तो भी प्राचीन कन्दराओं में उत्कीर्ण चित्रों, ताम्रपत्रों, भोजपत्रों, शिलालेखों में और मानव जाति के लिखित-अलिखित प्राचीन एवं अर्वाचीन भावों की संचित राशि के रूप में जो कुछ भी है वह सभी विशिष्ट साहित्य के अन्तर्गत है। जिससे आनन्द, लोकोत्तर आनन्द, की सृष्टि हो, जिसका सम्बन्ध तर्क-वितर्क से न हो, वही ललित साहित्य है। उसमें भाव-परिधि का निरन्तर विस्तार होता है। इस साहित्य का सम्बन्ध किसी भी देश या समाज या राजनीतिक या दार्शनिक विचारधारा से हो, उसमें दो या दो से अधिक हृदयों का योग होना अनिवार्य है। प्रोफ़ेसर ऐबरक्रॉम्बी

के अनुसार अपने भावों का आलम्बन जब दूसरे के भावों का आलम्बन भी बन जाता है तो साहित्य की सृष्टि होती है। कवि या लेखक और पाठक के बीच का सम्बन्ध सार्थक एवं व्यवस्थित रूपमें रखे गए शब्द-समूह(जिसे भाषा कहते हैं)द्वारा होता है। ये शब्द कवि या लेखक की विशुद्ध अनुभूति के प्रतीक होते हैं। विशुद्ध अनुभूति साहित्य का मूलाधार है। भावों और अनुभूतियों की अनन्तता के साथ-साथ, जीवन के असंख्य राग-रूपों के अनुरूप साहित्य भी अनेक रूप धारण करता है। पाठक के हृदय में अनुभूति की अनुकृति भाषा के माध्यम द्वारा होती है। साहित्य में विषय ही महत्वपूर्ण नहीं, उसका रूप और शैली भी महत्वपूर्ण हैं। इन दोनों पक्षों के उचित सम्मिश्रण से साहित्य में अनुभूति की घनीभूत तीव्रता, जो साहित्यकार की चेतना से छनकर आती है, पाठकों को प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति रखती है। साहित्यकार अपनी सूक्ष्म, तीव्र और घनीभूत अनुभूति के आधार पर अपने और पाठकों के बीच एक सेतु का निर्माण करता है। साहित्य का अपना सत्य होता है। उस सत्य की स्थापना करने का उसका अपना ढंग होता है। साहित्येतर रचनाओं की परीक्षा हम इस आधार पर नहीं करते कि वह कहाँ तक हमारी भावनाओं को उत्तेजित करती हैं अथवा उन्होंने हमारे कल्पना जगत् को कहाँ तक सुषमित किया है। साहित्येतर रचनाओं का परीक्षण यथार्थता, परिपूर्णता, पक्षपातशून्यता और उचित निर्णयात्मकता के मापदण्ड से किया जाता है। साहित्य का सत्य साहित्यकार के कल्पना-जगत् के मूल में सन्निहित हुए सत्य में ही दृष्टिगोचर होगा। एक समाचारपत्र द्वारा बताई गई दुर्घटना और कवि द्वारा वर्णित दुर्घटना में अन्तर होता है। पत्र हमें केवल समाचार देता है। कवि उस दुर्घटना को अपनी कल्पना से पुनर्जीवित कर हमारे सामने उपस्थित करता है। जो कार्य चित्रकार अपनी तूलिका से करता है वह कार्य कवि अपनी भाषा-शक्ति द्वारा करता है। प्रतिमा और छाया के समवाय में, साकार और निराकार के संकलन में और सत् तथा असत् के तादात्म्य में ही कल्पना-शक्ति निहित रहती है। कल्पना का मनुष्य के मनोवेगों से सीधा सम्बन्ध है और मनोवेगों में उत्कटता उत्पन्न करने के लिए (१) मनोवेग का औचित्य (२) मनोवेग की विशदता और शक्ति (३) मनोवेग की स्थिरता (४) मनोवेग की विविधता (५) मनोवेग की वृत्ति अथवा उसका गुण, ये पाँच तत्त्व माने गए हैं। ये ही बातें हैं जिनके आधार पर हम देश-काल की सीमा से स्वतन्त्र हो भाव-जगत् में जा पहुँचते हैं। भाव-पक्ष द्वारा पुष्ट मनोवेग ही उच्च श्रेणी के होते हैं। हमारे हृदय की सम्पूर्ण वृत्ति के साथ उनका सम्बन्ध होता है। साहित्यकार की रचना जीवन-तत्त्व से विहीन नहीं होती। तुलसी के 'मानस' से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है और मैथ्यू आर्नल्ड ने भी साहित्य के इस पक्ष को स्वीकार किया है।

तो साहित्य को जीवन की रागात्मक व्याख्या मान लेने पर साहित्येतिहास

की दृष्टि से उसके वर्गीकरण की समस्या उत्पन्न होती है। यह वर्गीकरण भारतवर्ष में ही नहीं, संसार के अन्य देशों में भी हुआ है। भारतवर्ष में साहित्य के रागात्मक तत्त्व को रस के अन्तर्गत माना गया है और रस जिस रचना में हो उसे व्यापक अर्थ में काव्य की संज्ञा प्रदान की गई है जिसके अन्तर्गत काव्य, नाटक, चम्पू, आख्यायिका आदि सभी का समावेश हो जाता है। व्यापक रूप से यही काव्य या साहित्य दो रूपों में विभाजित किया गया—(१) श्रव्य काव्य, और (२) दृश्य काव्य। गद्य-पद्य-मिश्रित रूप को चम्पू नाम से पुकारा गया। वास्तव में कवि के अन्तःकरण की वृत्ति के अनुसार काव्य साहित्य और गद्य साहित्य के अनेक भेदोपभेद हो सकते हैं। अन्तःकरण की वृत्ति के अतिरिक्त अपने चारों ओर के जीवन-सम्बन्धी अनुभव को व्यक्त करने की सामग्री या विषयों के आधार पर भी साहित्य का वर्गीकरण हो सकता है। वृत्ति और विषय के अतिरिक्त रूप के आधार पर भी वर्गीकरण सम्भव है। ये वर्गीकरण केवल सुविधा की दृष्टि से किए जाते हैं। इनमें साहित्य की मूल विशिष्टता—रागात्मकता, लोकोत्तर आनन्द-प्रदायिनी शक्ति आदि—की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं पड़ता। सौन्दर्य, रमणीय अर्थ, रस, अलंकार और भाषा-चमत्कार अर्थात् संक्षेप में, शब्द और अर्थ, अर्थात् भाषा और भाव दोनों मिल कर साहित्य की उत्पत्ति करते हैं।

साहित्य और समाज का परस्पर सम्बन्ध होने के कारण प्रत्येक काल की सामाजिक परिस्थितियों का सांगोपांग अध्ययन किए बिना उसकी वास्तविकता सिद्ध नहीं हो सकती। ऐसा करने से ही समाज और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध से सम्बन्धित नियम और सिद्धान्त स्थापित हो सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि सामाजिक परिस्थिति और साहित्य के स्वरूप के निरन्तर सम्बन्ध का अध्ययन नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्येक काल की अपनी निजी परिस्थितियाँ होती हैं और इसलिए यह अध्ययन इतिहास के नैरन्तर्य के परिप्रेक्ष्य में नहीं, वरन् भिन्न-भिन्न कालों के पृथक्-पृथक् अध्ययन द्वारा ही हो सकता है। यह निष्कर्ष नकारात्मक है। इस निष्कर्ष को मान कर आगे नहीं बढ़ा जा सकता। किन्तु इसके साथ-साथ इतना भी निश्चित है कि समाज और साहित्य के पारस्परिक विषयों से सम्बन्धित सिद्धान्त इतने व्यापक और निश्चित होंगे कि उन्हें व्यवहार में लाना एक प्रकार से असम्भव ही होगा। इन सिद्धान्तों के आधार पर इतिहास लिखना, एक प्रकार से, संकुचित मार्ग पर चलना होगा। इसका स्पष्ट उदाहरण है रैल्फ़ फ़ॉक्स कृत 'नोवेल एण्ड दि पीपुल' (१९३७) अथवा एलीज़बेथ मोनरो कृत 'दि नोवेल एण्ड दि सोसाइटी (१९४१)। इतने पर भी इस प्रकार के अध्ययनों से हमारे ज्ञान की थोड़ी-बहुत अभिवृद्धि अवश्य होती है। साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध मान कर चलने वाला इतिहास-लेखक एक का दूसरे पर पड़े प्रभाव का विशेषतः अध्ययन करता है। साहित्य का

समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है या पड़ सकता है, इससे कोई सीधा निष्कर्ष नहीं निकलता। समाज का साहित्य पर अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसलिए इतिहास लिखते समय यह जानना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि यह प्रभाव किस प्रकार का है और उस प्रभाव का सामान्य रूप क्या है। समाज विभिन्न वर्गों, सम्प्रदायों और समुदायों का एक ऐसा समूह है जिसकी कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती। समाज को विभिन्न टुकड़ियों में बाँटकर फिर यह देखा जाता है कि उनमें से प्रत्येक का साहित्य के प्रति क्या दृष्टिकोण है। संस्कृति का इतिहास-लेखक युग-धर्म या युग-भावना की बात उठा सकता है। किन्तु साहित्य के इतिहास में सामाजिक सम्बन्ध देखने वालों के लिए यह युग-धर्म या युग-भावना वाली बात अधिक सहायक सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि इसके द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों, सम्प्रदायों आदि के दृष्टिकोणों में परस्पर गड़बड़ उपस्थित होने की सम्भावना बनी रहती है। उदाहरण के लिए एक मध्ययुगीन वीर रस के कवि और आधुनिक युग के वीर रस के कवि की लोकप्रियता या अप्रियता एक शक्तिशाली वर्ग या सम्प्रदाय के रुचि-परिवर्तन या उसके परिवर्तित दृष्टिकोण द्वारा स्पष्ट हो सकती है। वास्तव में इतिहास लिखते समय साहित्य और समाज से सम्बन्धित ऐसी अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके फलस्वरूप साहित्य में रूपात्मक और विषयात्मक परिवर्तनों को अलग-अलग समझना पड़ता है और यह देखना पड़ता है कि रूपों और विषयों में परिवर्तन समाज के रूप में परिवर्तनों के साथ कहाँ तक और किस रूप में मेल खाता है। समाज में यांत्रिक साधन होते हैं, यांत्रिक साधनों के फलस्वरूप जीवन-क्रम परिवर्तित होता है और जीवन-क्रम परिवर्तित हो जाने से आत्माभि-व्यंजना का स्वरूप बदल जाता है। इस सामाजिक व्यवस्था-क्रम के फलस्वरूप उत्पन्न जीवन की परिस्थितियाँ साहित्य में कहाँ तक प्रतिबिम्बित हुई हैं, यह एक जटिल समस्या है। यांत्रिक साधनों का साहित्य पर सीधा प्रभाव नहीं पड़ता। वह परिवर्तित सामाजिक व्यवस्था के माध्यम से दृष्टिगोचर होता है। केवल प्रचार एवं प्रसार की दृष्टि से ही यांत्रिक साधनों और साहित्य के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। प्रायः यह भी देखा जाता है कि यदि एक साहित्यिक कृति एक विशेष सामाजिक वर्ग द्वारा निर्मित हो या एक विशेष प्रकार का समाज-दर्शन व्यक्त करे तब तो वह उत्कृष्ट कोटि की रचना समझी जाती है, अन्यथा निकृष्ट। समाज-सम्बन्धी दृष्टिकोण से साहित्यिक विचार प्रायः व्याख्यात्मक हो जाता है। छायावादी-रहस्यवादी कवि पलायनवादी थे, यह कथन स्पष्ट करने के लिए हमें कारणों की खोज करनी पड़ेगी और उन कारणों के आधार पर छायावादी-रहस्यवादी सौन्दर्य और कला-सम्बन्धी निर्णय निकालने होंगे। इस प्रकार के दृष्टिकोण से स्वयं साहित्यिक कृति का अधिक महत्व नहीं रह जाता, उस कृति के कारणों का महत्व हो जाता है। लेखक की सामाजिक दृष्टि उसकी कृति में

अवश्य प्रतिफलित होती है। इससे उसकी कृति का मूल्यांकन करने में सहायता प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, यह एक प्रकार से उसकी सौन्दर्य-दृष्टि की व्याख्या है। सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर किसी रचना के गुण-दोष और उनके कारणों का पता लगाया जा सकता है।

इन सब बातों के उल्लेख करने का उद्देश्य केवल इस बात का संकेत करना है कि साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है और साहित्येतिहास-लेखक को उसके विविध पक्षों और उसकी समस्याओं पर विचार करते हुए आगे बढ़ना पड़ता है। किन्तु कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि इस दृष्टिकोण से प्रेरित होकर लिखा गया इतिहास नियमबद्ध हो जाएगा और वह साहित्य के उन गुणों की अवहेलना करेगा जो उसे मनुष्य के अन्य क्रिया-कलाप से अलग करते हैं और जो उसे सब कालों में आनन्द प्रदान करने वाला साधन बनाते हैं। यह भी सम्भव है कि सामाजिक परिस्थितियों का एक साहित्यिक कृति के अन्तिम परिष्कृत रूप से कोई सम्बन्ध ही न हो। किसी देश के पतनकालीन समाज में भी प्रतिभाशाली और सुन्दर कृतियाँ रचने वाले लेखक का उत्पन्न होना असम्भव नहीं माना जा सकता। लेखक और पाठकों में असामंजस्य होने के कारण (जैसाकि द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी के कवियों-लेखकों और पाठकों के बीच देखा गया), या संकुचित मनोवृत्ति के पाठकों के कारण, या सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण साहित्यिक या कलात्मक कृतियों में दोष भी माने जा सकते हैं। इतना सब कुछ होने पर संसार के सभी देशों के विद्वानों ने यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है कि साहित्य और समाज में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वस्थ समाज में स्वस्थ और सुन्दर साहित्य की रचना होगी, यह सम्भावना तो बनी ही रहती है। किन्तु स्वस्थ और सुन्दर समाज और साहित्य की क्या कसौटी है, यह निश्चित कर पाना कठिन है। देश-काल के अनुसार स्वस्थ और सुन्दर होने का मानदण्ड बदल सकता है। इस सम्बन्ध में उतावलापन दिखाने की ज़रूरत नहीं। वास्तव में विद्वानों द्वारा समाज-विज्ञान और सौन्दर्य-विज्ञान के परस्पर सम्बन्ध पर अभी गंभीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता बनी हुई है।

•

# ८. साहित्येतिहास क्या है

साहित्येतिहास से सम्बन्धित कतिपय बातों पर विचार कर लेने के उपरान्त प्रश्न उठता है—साहित्येतिहास क्या है ? इतिहास क्या है, इतिहास-दर्शन का कब, कैसे और कहाँ-कहाँ विकास हुआ, इस पर संक्षेप में पीछे विचार किया जा चुका है। साहित्येतिहास इसी इतिहास का एक स्वतन्त्र विशिष्ट अंग है। साहित्येतिहास के सम्वन्ध में कतिपय विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं जिनका संक्षेप में सार इस प्रकार है—

१. साहित्येतिहास वह ऐतिहासिक बोध है जो राष्ट्रीय अथवा युगीन भाषागत विचारों से प्रभावित और अनुसन्धान-वृत्ति से एकत्रित सामग्री प्रस्तुत करता है। हेनरी मार्लो, टॉमस वाल्टन, कोर्ट होप आदि ने साहित्येतिहास को राष्ट्र की जीवनी या उसके मस्तिष्क की कहानी माना है और लेस्ली स्टीफ़ेन ने सामाजिक जीवन का एक विशेष व्यापार।

२. मानव के क्रिया-कलाप का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष में विवेचनात्मक अभिलेख साहित्येतिहास है जिसके लिए इतिहासवेत्ता को दार्शनिक, कला-पारखी और समाजशास्त्री बनना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, अन्य मानवीय क्रिया-कलाप की व्याख्या किए बिना साहित्य का इतिहास सम्भव नहीं।

३. टी० एस० इलियट ने साहित्येतिहास का अस्तित्व ही नहीं माना, क्योंकि साहित्य जीवन्त कृति है। वह कभी प्राचीन नहीं होता, इसलिए उसका इतिहास नहीं हो सकता। साहित्य में जो भाव और अनुभूतियाँ व्यक्त होती हैं उनका कोई इतिहास नहीं होता। किसी कृति की 'pastness' होती ही नहीं, उसमें पुरानापन होता ही नहीं। साहित्य सनातन है, सदैव विद्यमान है। उसका अस्तित्व समक्षणिक, 'simultaneous' होता है। कला में नैरन्तर्य होता है, विकास नहीं। उसका न तो अतिक्रमण हो सकता है और न पुनरावृत्ति। साहित्य सर्वव्यापी अनन्त वर्तमान का ज्ञान है। डब्ल्यू० पी० केर, शॉपेनहॉवर, रैंके आदि के विचार भी कुछ-कुछ ऐसे ही हैं। सी० वैलेक ने 'थिअरी ऑव लिट्रेचर' में अनेक विद्वानों के मत उद्धृत करते हुए साहित्येतिहास की निरर्थकता सिद्ध की है।

४. साहित्य सक्रिय है। साहित्येतिहास प्रवृत्तिमूलक, विवरणात्मक होता है।

वह अनुभूतियों का स्पष्टीकरण करता है। उसमें परिवर्तित होती हुई चित्त-वृत्तियों का विकास और कृति के महत्व का निर्धारण रहता है।

५. सर जॉर्ज ग्रियर्सन के आधार पर साहित्येतिहास विधेयवादी इतिहास-लेखन है जिसमें युग-विभाजन, प्रवृत्ति-निरूपण, पृष्ठभूमि-निर्देश, तुलनात्मक अध्ययन, मूल्यांकन आदि विशेषताएँ रहती हैं।

६. इतिहास की परिवर्तनशीलता का प्रभाव कला-कृति पर पड़ता है। कुछ सारभूत अभिन्नता बनी रहने पर भी संरचना गतिशील होती है जो पाठकों, आलोचकों और समानधर्मा कलाकारों के मस्तिष्क से गुज़रती हुई इतिहास की पूरी प्रक्रिया में परिवर्तित होती रहती है, व्याख्या, आलोचना, सराहना होती रहती है। वह वस्तुतः कला के विकास का अध्ययन है, साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन है। एडमंड गौस ने इसको साहित्य की गति कहा है। इसलिए साहित्येतिहासकार का काम है—(१) इस प्रक्रिया का वर्णन करना, (२) एक ही लेखक, विधा, शैली, भाषा-परम्परा के अनुसार छोटे और बड़े समूहों में व्यवस्थित कला-कृतियों का विकास-क्रम निर्धारित करना, और अन्ततः (३) सार्वभौम के भीतर उसका स्थान निर्धारित करना।

७. साहित्येतिहास में साहित्य का विकास किसी मूल्य या आदर्श से जोड़ा जाता है। ऐतिहासिक प्रक्रिया की परख मूल्य से की जाती है, मूल्यों का मानदण्ड स्वयं इतिहास से ग्रहण किया जाता है। साहित्य का विकास जैव-विकास से भिन्न और अमूर्त होता है। उसका कोई शाश्वत मानदण्ड नहीं। इसलिए साहित्येतिहास मूल्यों की परिवर्तनीय योजनाओं के सन्दर्भ में ही लिखा जा सकता है और यह योजना स्वयं इतिहास से प्राप्त होती है।

८. साहित्येतिहास में एक पूर्ण साहित्यिक प्रणाली का नई कृतियों की रचना के साथ निरन्तर परिवर्तित होने वाले आन्तरिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। चिरपरिवर्तनशील जीवधारी की भाँति बढ़ते रहने पर भी उनमें यह अन्तर है कि ऐतिहासिक विकास में वैयक्तिक विशिष्टता रहती है और उसे असम्बद्ध घटनाओं से बचाया जाता है।

९. फ्रेंच विचारक तेन (Taine) ने जाति, वातावरण और क्षण विशेष पर बल देते हुए जातीय परम्पराओं,राष्ट्रीय एवं सामाजिक वातावरण तथा सामयिक परिस्थितियों का अध्ययन साहित्येतिहास-लेखन के लिए आवश्यक समझा। हडसन ने साहित्यकार के व्यक्तित्व और प्रतिभा पर अधिक बल दिया। जर्मन चिन्तकों ने साहित्येतिहास के लिए युग-चेतना को महत्व प्रदान किया। वस्तुवादी साहित्येतिहास-लेखक साहित्य की सापेक्ष स्वतन्त्रता पर बल देते हुए, उसे जीवन के विविध पक्षों के सन्दर्भ में देखते हुए, व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। रूपवादी या कलावादी चिन्तकों का दृष्टिकोण सीमित है। वे साहित्य को अपने में

पूर्ण स्वतन्त्र मानते हुए साहित्यिक रूप और वस्तु-सम्बन्धी रचनात्मक प्रवृत्तियों और अभिव्यक्तियों की विकासशीलता की खोज करते हैं, न कि उसकी अन्तर्वस्तु की गतिशीलता की। यूरोप में कुछ चिन्तकों ने साहित्येतिहास में मूल तत्त्व साहित्य का, विधान इतिहास-विज्ञान का और पल्लवन समाज-विज्ञान का माना है।

१०. कुछ विद्वानों ने कृतियों के सम्बन्धों, स्रोतों और प्रभावों का विवेचन भी साहित्येतिहास का महत्वपूर्ण उद्देश्य माना है। प्रभाव डालने वाली कृतियों से विचारों, समानान्तर उक्तियों, रूढ़ मुहावरों, रूपकों, समान विषय आदि के सादृश्य खोजने में ये विद्वान् प्रयत्नशील रहते हैं। उनका यह दृष्टिकोण तुलनात्मक अध्ययन और मौलिकता की खोज करने की ओर प्रेरित करता है। वे यह देखना चाहते हैं कि साहित्यकार परम्परा से, रूढ़ विषयों, बिम्बों आदि से अलग नवीन अनुभूतियों की उद्भावना की दृष्टि से, भावात्मक और कलात्मक दृष्टि से कहाँ तक मौलिक है। परम्परा के सन्दर्भ में प्रत्येक कृति का उचित मूल्यांकन करना उनकी दृष्टि में साहित्येतिहास का पहला काम है। एक ही लेखक की कई रचनाओं में से किसी एक परिपक्व रचना में मूल्यों की खोज या उसकी निश्चित विशेषता और आदर्श टाइप का पता लगा कर भी यह कार्य पूर्ण किया जा सकता है। किसी एक लेखक की कृति के अतिरिक्त किसी एक काल या किसी राष्ट्र के समग्र साहित्य के आधार पर इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायता प्राप्त होती है।

११. विभिन्न विधाओं के इतिहास की समस्या भी साहित्येतिहास की एक समस्या मानी गई है। इसमें विधाओं की विच्छिन्न परम्पराओं और युगों के बीच सम्बन्ध-सूत्र या सातत्य स्थापित कर समूचे इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता होती है। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि के विकासात्मक इतिहास इसी कोटि में आते हैं। लोक-साहित्य से भी उनका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। आधुनिक काव्य या गद्य-विधाओं के इतिहास के लिए क्लासिकी और मध्ययुगीन भेदों-प्रभेदों का अध्ययन आवश्यक है। किन्तु यह अध्ययन प्रभेदों के वर्णन या अलग-अलग विवेचनों की असम्बद्ध शृंखला बन कर नहीं रह जाना चाहिए। किसी विधा का क्रम टूट भी सकता है, तो भी कालबद्ध लक्ष्य अपने दिमाग़ में रखना जरूरी है।

१२. किसी काल के साहित्यिक आन्दोलनों के इतिहास को भी साहित्येतिहास की संज्ञा प्रदान की गई है। इसमें लेखकों, रचनाओं आदि पर अधिक ध्यान केन्द्रित न कर एक विशिष्ट विचारधारा पर, जो अन्ततोगत्वा कृतियों को भी प्रभावित करती है, ध्यान रखा जाता है। हिन्दी में 'ब्रजभाषा बनाम खड़ी-बोली आन्दोलन' इसका एक छोटा-सा, किन्तु महत्वपूर्ण, उदाहरण है।

उपर्युक्त कतिपय कथनों से साहित्येतिहास-सम्बन्धी एकाधिक लक्षणों का

ज्ञान अवश्य प्राप्त हो जाता है, किन्तु उनसे उसके वास्तविक सम्यक् स्वरूप की अवधारणा स्पष्ट नहीं होती। साहित्येतिहास न केवल साहित्य का पुरावृत्त अथवा उसके अतीत का इतिवृत्तात्मक विश्लेषण है, न केवल जीवनियों या कविवृत्त का संग्रह है, न केवल स्रोतों की खोज है, न केवल भाषावैज्ञानिक अध्ययन है, न केवल कला के विकास का अध्ययन है, न केवल पाठालोचन है, न केवल विधाओं और आन्दोलनों का विकास-क्रम या धारा-निरूपण है और न केवल आलोचना है। साहित्येतिहास का उद्देश्य न तो कलाकारों को जन्म देना है, न संस्कृति का प्रचार करना है और न अध्यापक बनाना है। कक्षा में पढ़ाया जाने वाला इतिहास भी साहित्येतिहास नहीं है। ज्ञान की एक स्वतन्त्र विधा के रूप में साहित्येतिहास और कक्षाओं में पढ़ाए जाने वाले साहित्येतिहास में अन्तर है। साहित्येतिहास की रचना करते समय भलीभाँति ज्ञात और अल्पज्ञात सभी रचनाओं पर विचार किया जाता है। कक्षा में पढ़ाए जाने वाले साहित्येतिहास के लिए यह आवश्यक नहीं है। अपने में साहित्येतिहास अगाध पाण्डित्य का प्रतीक है। कक्षा में उसका केवल शैक्षणिक महत्व है। ये सभी बातें साहित्येतिहास-लेखन में कठिनाई उपस्थित करती हैं। उसकी कार्य-कारण गति भी कठिनाई का एक कारण है। किन्तु इन सभी बातों का अध्ययन करना आवश्यक होते हुए भी वे अपने में साहित्येतिहास नहीं हैं। इन सभी के पीछे ऐसे तत्त्व छिपे रहते हैं जिनके फलस्वरूप साहित्य में मनुष्य की भावनाओं, इच्छा-शक्ति, वैचारिक शक्ति का प्रतिफलन होता है। ये बातें ही अन्ततोगत्वा मानव-चेतना का चरम रूप धारण कर लेती हैं। अतएव साहित्येतिहास का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य की चेतना और चिरन्तन वास्तविकताओं की खोज करना है। मनुष्य की ऊर्जा, जीवन्त शक्ति की खोज करना उसका उद्देश्य है। वह 'comforting and creating fire that fashions men' है।

यह सभी जानते हैं कि मानव की आत्मचेतना की अनुभूतिपरक अभिव्यक्ति साहित्य है और साहित्येतिहास भी वही है जिसे ड्रॉयसन (Droysen) ने 'know thyself of mankind, its conscience' कहा है या जेम्स हार्वे रॉबिन्सन के अनुसार 'all we know about everything man has ever done, or thought, or felt' है। मानव की व्यापक आत्मचेतना का अंग होते हुए भी साहित्येतिहास उसका एक विशिष्ट अध्ययन है, क्योंकि ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी से विशिष्टीकरण का जो युग प्रारम्भ हुआ, वह जे० ए० निक्लिन (Nicklin) के शब्दों में : "The enormous volume of material increasing daily in geometrical proportions, seems to make specialisation an imperative necessity." आज मनुष्य की जिज्ञासा और उसकी बहुमुखी सर्जनात्मक कल्पना के समन्वय से इतिहास के सम्बन्ध में सुन्दर अव-

धारणा की आशा की जाती है। इस आशा के बिना मानव जाति के लिए इतिहास का कोई मूल्य नहीं रह जाएगा।

तो फिर, साहित्येतिहास है क्या? इसकी कोई एक परिभाषा देना कठिन है। जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, कुछ विद्वानों के मतानुसार साहित्य का इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता, क्योंकि साहित्य कभी पुराना नहीं पड़ता। अतीत से सम्बन्धित इतिहास और निरन्तर बनी रहने वाली चीज़ में अन्तर तो होगा ही। पाश्चात्य विद्वान जैविक विकास और साहित्य के विकास में भी अन्तर मानते हैं। यूरोप के लेस्ली स्टीफ़ेन, हेनरी मार्लो, एडमंड गौस, मिल्टन, सेंट्सबरी, शॉपेनहॉवर आदि और फिर स्पेंग्लर और टॉयनबी के विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच साहित्येतिहास और सामान्य इतिहास के सम्बन्ध में निश्चित धारणा बना लेना सरल कार्य नहीं है। तो भी यह कहना अनुचित न होगा कि साहित्येतिहास मानव-जीवन की ऊर्जा, उसके सूक्ष्म स्फुलिंग, उसकी चेतना के व्यापक ज्ञान की एक विशिष्ट विधा है और विशिष्ट होने के कारण उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। वह कोई शिक्षा-शास्त्र या उपदेश नहीं है। किसी युग या राष्ट्र को समझने के लिए साहित्य सर्वोत्तम साधन है। वह एक ऐसी खोज का माध्यम है जिससे मानव-मन का वह पक्ष ढूँढा जाता है जो हमारे अस्थिचर्ममय अस्तित्व से ऊपर है। मैं साहित्येतिहास को ज्ञान की ऐसी विधा मानता हूँ जो कृतियों के अध्ययन द्वारा निरन्तर परिवर्तनशील जीवधारी का सार्वभौम के भीतर विकास (जैविक विकास नहीं) स्थिर करती है। एमर्सन के अनुसार साहित्येतिहास का उद्देश्य उस समय पूर्ण होता है जब "facts yield their secret sense and poetry and annals are alike." सभ्यता के इतिहास, विज्ञान या मनोविज्ञान के इतिहास, मानविकी की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन में तटस्थता रहती है, बाह्य परीक्षण रहता है। साहित्येतिहास तटस्थ अध्ययन-पद्धति या शिक्षा-शास्त्र की शाखा नहीं है। वह "history of human spirit" है, मानवात्मा की पहचान है, स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते हुए मानव का इतिहास है। केदारनाथ, बद्रीनाथ, वाराणसी, खजुराहो, मदुरई, रामेश्वरम् आदि के पवित्र मन्दिरों में वह ईंट-पत्थर, गारा-चूना नहीं खोजता। वह आलोचना का क्षेत्र है। वह तो उनमें मानव-चेतना का प्रवहमान सातत्य देखता है। वह उनमें एक ऐसे अमरत्व के दर्शन करता है जो ईंट-पत्थरों में नहीं, वरन् उस शक्ति में है जिसके ये ईंट-पत्थर, ये विशाल मन्दिर प्रतीक मात्र हैं। साहित्येतिहास-लेखक एक समीक्षक या आलोचक या तथ्य-संग्रहकर्ता से भिन्न व्यक्ति होता है। सूर-तुलसी जैसे महान् प्रतिभाशाली कवियों की रचनाएँ सहज ही साहित्येतिहास का अंग बन जाती हैं। प्लेटो के यह कहने पर "I am no writer of history", डायोजिनीस (Diogenes) ने कहा था :

"Every great writer is a writer of history, let him treat on

almost what subject he may, he carries with him for thousands of years a portion of his times."
साहित्येतिहास में इसी 'portion of his times' में पुनः प्राणों का संचार करना, उसकी पुनः व्यवस्था करना और, इस प्रकार, उस समय के मन की धड़कन सुनना महत्व रखता है। तथ्यों और जीवनियों का अध्ययन करते हुए, मूल स्रोतों को खोजते हुए, कृतियों का अध्ययन करते हुए वह उनमें मानवानुभूति का सातत्य देखने की चेष्टा करता है। वह एक ऐसे अमृत-तत्त्व की खोज करता है जिसके प्रतीक मानव-सभ्यता और संस्कृति के वे पग-चिह्न हैं जिनमें सार्वभौम मानव प्रतिबिम्बित है, जहाँ व्यष्टि समष्टि में समाविष्ट हो जाता हैं। एक पाश्चात्य लेखक के अनुसार :

"Literary history looks on literature as one phase of that history of the human spirit which is one of the chief learnings, is humanism itself."
चन्द्रलोक की यात्रा उस 'spirit' का एक पक्ष है, साहित्य उसका दूसरा पक्ष है।

इस सन्दर्भ में साहित्य को जीवन की प्रतिकृति कहाँ तक और किस रूप में माना जाए, यह प्रश्न उभर कर सामने आता है। पश्चिम में यह प्रश्न उस समय उठा जब बेकन ने साहित्येतिहास को' "record of the lives of men of letters, the influence of the life about them, and of their lives in books, and the writings themselves." कहा। इनमें से अन्तिम तीसरी बात ही महत्वपूर्ण मानी गई। शेष बातें गौण मानी गईं। इस सन्दर्भ में अनुकरण और यथार्थवाद से सम्बन्धित दो प्रश्न उठते हैं। अनुकरण का सम्बन्ध साहित्यालोचन से है। यूरोप में यथार्थवाद की समस्या बहुत प्राचीन नहीं है। वहाँ अब कला, प्रकृति, जीवन के अनुकरण की चर्चा न कर यथार्थवाद की चर्चा की जाती है। रोमैंटिसिज्म की तुलना में वहाँ 'यथार्थवाद' शब्द का प्रयोग किया जाना उचित लगता है। इन दोनों का सम्बन्ध साहित्येतिहास से है, किन्तु आंशिक रूप में। तुलसी के राम के जीवन से मध्ययुगीन जीवन का प्रामाणिक रूप भले ही उपलब्ध न हो, किन्तु उनका जीवन तत्कालीन 'जीवन की प्रतिकृति' अवश्य है जिससे साहित्येतिहासकार उस समय के जीवनानुभव या चेतना का सही-सही मूल्यांकन कर सकता है। महान् साहित्यिक कृति अपने युग की ऐसी प्रतिकृति होती है जिसमें स्वयं मनुष्य अंकित रहता है। इस दृष्टि से साहित्येतिहास व्यापक मानववाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष माना जा सकता है। साहित्य जीवन की प्रतिकृति है, इसकी निश्चित व्याख्या करना कठिन है। तो भी साहित्येतिहास का ठीक-ठीक रूप हृदयंगम करने के लिए, 'आस्वाद' पर निर्भर

रहने वाले आलोचक और संस्कृति के इतिहास-लेखक का सापेक्षिक महत्व समझने के लिए, कुछ ऐसी बातों पर विचार करना आवश्यक है जो इस सम्बन्ध में उपेक्षणीय नहीं हैं।

भारतवर्ष में आधुनिक प्रणाली से साहित्येतिहास या सांस्कृतिक इतिहास लिखने की परम्परा नहीं रही। पश्चिम में भी आधुनिक अर्थ में साहित्येतिहास का विकास पुनर्जागरण काल तक न हो सका था। सर्वप्रथम बेकन ने सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। धीरे-धीरे ट्यूडरकालीन मानवतावादियों ने मानव-सभ्यता का इतिहास लिखते समय साहित्य को उसका क्षीण अंश बनाया था। उस समय काव्य और काव्य-रचना-सम्बन्धी मत ही अधिक व्यक्त होते रहे। साहित्येतिहास जैसी ज्ञान की विधा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित न हो सका था। साहित्येतिहास के बिना संसार का इतिहास नेत्रहीन मूर्ति की भाँति है। इस इतिहास के प्रणयन के लिए, मनुष्य की चेतना को प्रकाश में लाने के लिए, किस युग में किस प्रकार के ज्ञान और किस प्रकार की कला का विकास हुआ, इस संबंध में खोज और परीक्षण करना आवश्यक हो जाता है। पुराकालीन वस्तुओं का संग्रह, उन वस्तुओं का ऐतिहासिक विकास, तत्संबंधी सभ्यता और संस्कृति का उद्भव, विकास और ह्रास, उस समय के लोगों की चारित्रिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विशेषताएँ, उस समय रचित ग्रन्थों का अध्ययन आदि, इन सब बातों से इस सम्बन्ध में प्रचुर सहायता प्राप्त होती है—

"Literary spirit of each age may be charmed as it were from the dead."

यह दृष्टिकोण मानवतावादी है। ज्ञान की प्रत्येक विधा के इतिहास में मानवतावादी दृष्टिकोण निहित रहता ही है।

साहित्येतिहास का रूप समझने के लिए उपर्युक्त दृष्टिकोण का समझना आवश्यक है। आधुनिक भाषा-विज्ञान और विज्ञान का इतिहास लिखते समय उपर्युक्त दृष्टिकोण का अनुसरण किया जा रहा है। साहित्येतिहास से जहाँ तक सम्बन्ध है, तीन बातें प्रमुख हैं—(१) पुराकालीन खोज का विकास किस निश्चित दिशा में हुआ है और उसमें उस समय की चित्तवृत्ति पर कहाँ तक प्रकाश पड़ा है, (२) अलग-अलग की गई खोजें घुलमिल कर कहाँ तक ज्ञान की एक प्रमुख धारा के रूप में हमारे सामने आई हैं, और (३) इस प्रमुख धारा को इतिहास का रूप किस प्रकार प्रदान किया जा सकता है। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय उसके सुदीर्घकालीन विकास को दृष्टिपथ में रखना आवश्यक है। किसी प्राचीन कवि की रचना का अध्ययन करते समय तत्कालीन आचार-विचार समझने होंगे, हमें अपने को उस काल की जीवन-परिस्थितियों में रखना होगा, तभी हम उस

कवि की विचार-मुद्रा समझ सकेंगे । अपने युग के मानदण्ड से उसे समझना बिल्कुल ग़लत होगा। समझना तो यह चाहिए कि अतीतकालीन साहित्यिक चेतना से वर्तमान चेतना का क्या सम्बन्ध है और उसने वर्तमान रूप क्यों और कैसे धारण किया। पुराकालीन कवि के युग में रहने का आशय है उस काल से सम्बन्धित खोजों में डूबा रहना। उसकी रचना में चित्रित तत्कालीन जीवन का विम्ब ग्रहण करना, उस युग की चेतना को पहचानना है।

अतः साहित्य को जीवन की प्रतिकृति मानने से आलोचक की दृष्टि में यदि जलवायु, समाज की चित्तवृत्ति, संक्षेप में, सम्पूर्ण युग उभर कर आता है, तो इतिहास की दृष्टि में कविता, नाटक आदि कल्पना-सापेक्ष साहित्यिक रूप ऐसी सामग्री का रूप धारण कर लेते हैं जिससे उस समय के सांस्कृतिक वातावरण का मूल्यांकन किया जा सकता है। दोनों हालतों में ग़लती हो जाने की गुंजाइश है। तेन ने साहित्येतिहास का उद्देश्य बताते हुए यह कहा था कि उसके द्वारा हम कवि को, उसके भावों और विचारों को समझने की चेष्टा करते हैं। किन्तु अन्य विद्वानों की राय में तेन का यह मत मामूली, अमूर्त और जैव साधर्म्य पर आधारित है। साहित्येतिहास-सम्बन्धी इस धारणा से दुरूह मानव-सभ्यता एक फ़ॉर्मूला बन कर रह जाएगी और इस फ़ॉर्मूले के अनुसार एक लेखक या कवि और उसकी रचना को सहज ही व्यवस्थित किया जा सकेगा। इस दृष्टिकोण और किसी कृति के सम्बन्ध में पहले से बनी धारणा में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। यह दृष्टिकोण भ्रम में डालने वाला सिद्ध होगा । किसी कवि की चेतना को समझना मामूली काम नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र या उनके युग की चेतना को तत्कालीन सुधारवादी आन्दोलनों और राष्ट्रीय जागृति का परिणाम मान लेने से ही साहित्येतिहास के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती। न मालूम कितनी विभिन्न शक्तियों के निचोड़ से युग-मन निर्मित होता है। एक युग की प्रसव-पीड़ा और उससे उत्पन्न चेतना को समझना कठिन कार्य है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में सुधारवादी प्रवृत्ति और राष्ट्रीय भावना ही व्यक्त नहीं हुई, उनमें उस युग-जलधि के आलोड़न-विलोड़न से उत्पन्न अमृत-तत्त्व है। साहित्येतिहास-प्रणयन के लिए मात्र बाह्य कारण और आचार-विचार ही विचारणीय नहीं होते, वरन् उस युग के 'spiritual conflict' को भी देखना आवश्यक है। एक युग-मन २ + २ = ४ नहीं है। उसमें अनेक धाराएँ-प्रतिधाराएँ, अन्तर्धाराएँ काम करती हैं। हमें उस युग के बौद्धिक जीवन के मूल स्रोत ढूँढने पड़ते हैं, पुराकाल का प्रभाव खोजना पड़ता है और यह देखना पड़ता है कि ये सब घुलमिल कर एक नए युग या एक कवि या लेखक की प्रतिभा का निर्माण कैसे करते हैं। साहित्येतिहास द्वारा मानव-चेतना को उद्भासित करने वाली और उस युग के पीछे काम कर रहीं उन शक्तियों को समझना होता है जो युग के मन का और कवि-प्रतिभा का निर्माण

करती हैं। जीवन का तात्पर्य दैनिक व्यावहारिक साधारण जीवन नहीं, वरन् उसे पिछले मूल स्रोतों का परिणाम मान कर चलने से तीन निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) साहित्य जीवन की प्रतिकृति है, किन्तु जो सामान्यतः समझा जाने वाला यथार्थ नहीं है।

(२) साहित्य-सृजन केवल बाह्य जीवन की प्रतिक्रियास्वरूप नहीं होता, वरन् कवि या लेखक के स्वाध्याय अर्थात् स्रोतों के फलस्वरूप भी होता है।

(३) यह तीसरा निष्कर्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और वह यह है कि 'जीवन' और 'स्रोतों' के अतिरिक्त एक साधारण या प्रसिद्ध लेखक की प्रतिभा एक ऐसा साधन बन जाती है जिसके माध्यम से मानव-चेतना मुखरित हो उठती है और जिसमें गणित के नियम लागू नहीं होते।

ऐसा मान लेने से साहित्येतिहास में खोज का महत्व स्पष्टतः स्थापित हो जाता है।

वास्तव में साहित्येतिहास-सम्बन्धी धारणा के मूल में ज्ञान की वह विधा है जिसके अन्तर्गत मानव जाति की सभ्यता का समग्र इतिहास आ जाता है और उसी इतिहास का एक प्रधान अंग साहित्येतिहास है जिसमें मानव-चेतना के सन्दर्भ में साहित्य का अध्ययन किया जाता है। साहित्यकारों की जीवनियों से इस सम्बन्ध में उतनी ही और उसी प्रकार की सहायता प्राप्त होती है जितनी एक सेना-नायक या राजनीतिज्ञ या सम्राट् की जीवनी से राजनीतिक इतिहास लिखने में सहायता प्राप्त होती है। इस प्रकार की जीवनियाँ या संस्मरण अपने में साहित्येतिहास की कोटि में नहीं रखे जा सकते। आलोचना के लिए अँगरेज़ी में एक वाक्य प्रसिद्ध है: "adventures of the soul among masterpieces" किन्तु इतने पर भी, अपने में महत्वपूर्ण होते हुए भी, आलोचना साहित्येतिहास नहीं है। सच तो यह है कि जीवनियाँ, आलोचना, मूल उद्गमों की खोज, साहित्य की विविध विधाओं और प्रकारों का विकास आदि साहित्येतिहास की रचना के लिए कच्चे माल का काम करते हैं। साहित्येतिहास इन तथा अन्य अनेक प्रकार की सामग्रियों का निचोड़ है, सार तत्त्व है। ऐसे इतिहास में व्यक्ति रूप में कवियों और उनकी रचनाओं का कोई महत्व नहीं माना जाता—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार किसी देश के राजनीतिक इतिहास में किसी नरेश या राजनीतिज्ञ या सेनानायक की जीवनी का महत्व होते हुए भी उसे इतिहास की कोटि में नहीं रखा जा सकता। अनेक प्रकार की सामग्रियों का अध्ययन करने के उपरान्त जो निष्कर्ष निकलता है वह निष्कर्ष ही साहित्येतिहास का मूलाधार है। साहित्येतिहास की दृष्टि में कवि-लेखक और उनकी महान् कृतियाँ शाश्वत मानव-चेतना के अजस्र प्रवाह में प्रवाहित होते हुए उसी में विलीन हो जाती हैं। इस प्रकार साहित्येतिहास के अध्ययन करने का उसका अपना विशिष्ट ढंग है, उसकी अपनी

विशिष्ट प्रविधि है जो आलोचना और साहित्यकारों की जीवनियों से भिन्न है। ज्ञान की अन्य विधाओं की भाँति, मानव-चेतना की अपने परिवेश के प्रति प्रति-क्रिया की खोज करना साहित्येतिहास का उद्देश्य है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें अधिकांशतः जीवनियों, रचनाओं और आलोचनाओं को स्थान दिया गया है। साहित्य को जीवन का प्रतिबिम्ब मान कर ही हिन्दी में इतिहास लिखे गए हों, ऐसा भी, एकाध अपवाद छोड़ कर, देखने में नहीं आता। जीवन के प्रतिबिम्ब से तात्पर्य है कि साहित्य में कहाँ तक जीवन की यथार्थता, मनुष्य की जीवन-पद्धति और सामाजिक इतिहास अंकित हुआ है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में महत्वपूर्ण कृतियों के मूल स्रोत खोजने की चेष्टा की गई है। कुछ विद्वानों का मत है कि एक महान् कृति के मूल स्रोत खोजना वैसा ही बेतुका है जैसे तानसेन की संगीत-कला का मूल खोजना। किन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है। तुलसीदास ने 'मानस' की रचना करते समय अनेक प्रसंग और भाव वाल्मीकि रामायण,अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों से ग्रहण किए हैं। इससे उनकी रचना में बासीपन नहीं आ जाता। न उन पर साहित्यिक चोरी का इल्ज़ाम लगाया जा सकता है। केवल मूल स्रोत खोजकर साहित्य का अध्ययन करना उसे यंत्रवत् देखना होगा। वास्तव में मूल स्रोतों की खोज से कवि की रुचि, उसके स्वाध्याय, उसके बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण आदि से उसकी रचना को भलीभाँति समझने और उसकी मौलिक सौन्दर्यानुभूति का आनन्द प्राप्त करने में सहायता मिलती है। हिन्दी में ऐसे इतिहास नहीं के बराबर हैं जिनमें यह प्रदर्शित किया गया हो कि कवि या लेखक की रचना में उसके युग का जीवन उसी प्रकार अभिन्न रूप में प्रतिफलित हुआ है जिस प्रकार बिना किसी चेष्टा के और बिना कुछ जाने वह साँस लेता रहा हो या भोजन प्राप्त कर उसका रस ग्रहण करता रहा हो, नैतिक जीवन, धनधान्य, धर्म, समाज, साम्राज्य आदि उसकी अर्थात् मनुष्य की, शाश्वत चेतना के आवरण से आवृत्त हो। ऐसे इतिहास में कवि या लेखक एक ऐसे सार्वभौम मानस की अभिव्यक्ति का साधन बन जाता है जिसके लिए, कीट्स के प्रति शोक व्यक्त करते हुए, शेली ने कहा था—

"The One remains, the many change and pass;
Heaven's light forever shines, Earth's shadows fly;
Life, like a dome of many colored glass,
Stains the white radiance of Eternity."

संसार के लगभग सभी देशों में एक यह विचारधारा भी प्रचलित रही है कि साहित्य और जीवन में कोई सम्बन्ध नहीं। देश-काल से असंपृक्त कलाकार एकान्त में बैठा हुआ अपनी कला का चमत्कार प्रदर्शित करता है, अपने 'ivory tower',

शीशमहल से बाहर आने की उसे आवश्यकता नहीं। वह स्वतन्त्र रूप से कलात्मक सर्जना में संलग्न रह सकता है। किन्तु इस मत का बहुत अधिक प्रचार नहीं हुआ। 'कलार्थे कला' के स्थान पर 'कला जीवन के लिए' है, वह जीवन की व्याख्या है, इस मत के समर्थकों ने यथार्थ का आश्रय ग्रहण करते हुए भी यह कभी नहीं कहा कि यथार्थ से तात्पर्य घोर यथार्थ या फ़ोटोग्राफ़ी वाले यथार्थ से है। वास्तव में घोर यथार्थ-चित्रण से किसी युग का जीवन भलीभाँति समझा भी जा सकता है, यह सन्देहपूर्ण है। साहित्य का उद्देश्य जीवन की ऊपरी हलचल की तह में क्या है, यह देखना है। घोर यथार्थ से युग के हृदय का स्पन्दन नहीं समझा जा सकता। साहित्य के रसास्वादन के लिए युग विशेष के यथार्थ जीवन का अध्ययन तो आवश्यक है, किन्तु साहित्येतिहास-प्रणयन के लिए अपने को यहीं तक सीमित रखना उचित नहीं। उचित होगा यह देखना कि उस युग का मन किस प्रकार घनीभूत रूप में व्यक्त हुआ है। चन्द बरदाई से लेकर मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर 'प्रसाद' तक के साहित्य में जीवन का यथार्थ भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है, और इस यथार्थ का अध्ययन होना चाहिए, यह ठीक है, किन्तु साहित्येतिहास की जिस रचना-शैली का संकेत पीछे दिया जा चुका है, वही शैली साहित्य के अध्ययन की वैज्ञानिक शैली है, अर्थात् सभी बाह्य और स्थूल साधनों और सामग्री का संकलन करते हुए उनका अन्तर्निहित अर्थ खोजना। इससे आलोचना और अध्ययन के अन्य साधनों को क्षति पहुँचने के स्थान पर लाभ ही पहुँचेगा। बर्क के शब्द का प्रयोग करते हुए साहित्येतिहास में युग का 'temper' खोजा जाना चाहिए। और, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, ऐसा करते समय साहित्येतिहास मानव-चेतना के इतिहास के किसी पक्ष विशेष पर नहीं, उसके सभी पक्षों पर ध्यान केन्द्रित करता है। इससे साहित्य के अध्ययन का रसास्वादन तीव्र हो जाता है। यहाँ सामाजिक और राजनीतिक हलचलों को साहित्य उस रूप में ग्रहण नहीं करता जिस रूप में राजनीतिक इतिहास अँगरेज़ शासकों द्वारा पारित विभिन्न इंडिया बिल्स-ऐक्ट, क्रिप्स मिशन, भारत-विभाजन, स्वतन्त्र भारत के संविधान के निर्माण आदि का अध्ययन करता है। इन बातों का साहित्येतिहास से सम्बन्ध अवश्य है, किन्तु उसके लिए इन ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे छिपी हुई अदृश्य शक्ति को मूर्तिमान करना है, उनकी 'नब्ज़ पहचानना' है। कोई भी रचना कवि या लेखक की कपोलकल्पना न होकर, 'thrice removed from reality' की उपज न होकर, केवल कवि या लेखक की अनुभवगम्य रचना ही बनी न रहकर उसके युग-मन की अभिव्यक्ति बन जाती है। साहित्यकार अपने युग की शक्तियों को सँवार कर उन्हें अन्तिम तराशा हुआ रूप प्रदान करता है।

मानव-संस्कृति के अध्ययन के फलस्वरूप कुछ विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि एक युग में मान्य सत्य का दूसरे युग में खण्डन होता है और फिर आगे

चल कर वही पुराना सत्य प्रतिपादित किया जाता है और इस प्रकार इतिहास मानव-संस्कृति, मनुष्य की बुद्धि की गति वर्तुलाकार होती है, न कि छोड़े हुए बाण की तरह। साहित्य के मूल स्रोत खोजने वाले प्रायः इस मत की पुष्टि करते देखे जाते हैं। घूम-फिर कर वे एक ही बात की पुनरावृत्ति करते रहते हैं। शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों और पाठ-संपादन से सम्बन्धित ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति प्रायः दिखाई पड़ती रहती है। दो ग्रन्थों में भाव-साम्य देखते ही परवर्ती साहित्यकार द्वारा पूर्ववर्ती साहित्यकार का अनुकरण या नकल या चोरी करने का निष्कर्ष निकाल लिया जाता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है। परवर्ती साहित्यकार ने मूल रचना न पढ़ कर अन्य किसी रचना से कोई भाव ग्रहण किया हो। मिथक कथाओं के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। मूल स्रोत तक न जाकर कोई कवि अपने समय में प्रचलित मिथक कथा को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी साहित्यकार मूल सामग्री का उपयोग न कर गौण सामग्री या लोक-प्रचलित सामग्री का भी उपयोग कर सकता है। साहित्येतिहास लिखते समय इन बातों को ध्यान में रखना और उनके प्रति सतर्क रहना आवश्यक है। कुछ लोग तो मात्र पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए ही पाठकों को विभिन्न तर्कों एवं तथ्यों की भूल-भुलैया में उलझा दिया करते हैं। अतएव साहित्य के अध्येता और साहित्येतिहास का प्रणयन करने वाले को मूल स्रोतों की खोज करने वालों की सामग्री अन्धविश्वास के साथ ग्रहण नहीं करनी चाहिए। इसके साथ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि क्योंकि साहित्येतिहास के लिए उपयोगी इस साधन का दुरुपयोग किया गया है, इसलिए इसे दूषित या अनावश्यक घोषित नहीं किया जा सकता। अपने में यह बहुत अच्छा साधन है और इससे साहित्य के अध्ययन और साहित्येतिहास की रचना करने में काफ़ी सहायता प्राप्त होती है। एक कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव स्वीकार करते हुए भी, विभिन्न स्रोतों से सामग्री ग्रहण करते हुए भी, उसे अपने युग की चेतना के अनुरूप प्रतिपादित करने के लिए स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद के कवियों और लेखकों ने महाभारत और रामायण तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों से अनेक कथाएँ और मिथक ग्रहण करते हुए उन्हें आज के परिवेश की अभिव्यंजना का साधन बनाया है। साहित्येतिहास-लेखक को यही देखना है कि वह सब मिलकर कहाँ तक मानव-चेतना व्यक्त करने में सफल हो सका है। इन कथाओं और मिथकों द्वारा उनके जीवनानुभव ने एक नए 'आध्यात्मिक' यथार्थ का रूप ग्रहण कर लिया है या नहीं, यह विषय साहित्येतिहास का है। यह भी देखा गया है कि एक ही कथा और मिथक को दो कवियों ने अपने-अपने ढंग से ग्रहण किया है। यह निर्भर करता है उनके अपने-अपने जीवनानुभव पर या उनके द्वारा जीवन को किसी विशेष दृष्टिकोण से देखने पर। जो अपने अनुभव को व्यापक

रागात्मक धरातल पर व्यक्त कर सकेगा वह उतना ही अधिक सफल कवि या कलाकार माना जाएगा और उतना ही अधिक वह मानव-चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सकेगा। अपनी सर्जनात्मक कल्पना द्वारा पुरानी बातों को वह जीवन के अनुभव की नई 'आध्यात्मिक' इकाई के रूप में प्रतिपादित कर सका है या नहीं, साहित्येतिहासकार की दृष्टि इस पर केन्द्रित रहती है। कवि या कलाकार का 'experience transformed into spiritual terms', अथवा, उसका 'racial experience transformed into spiritual truth', अथवा, उसका 'experience transcribed into new reality' हुआ है या नहीं, यह विषय साहित्येतिहासकार का है। इससे साहित्य-रचना का रहस्य नहीं जाना जाता, वरन् इससे हमारी आस्वादन की क्षमता बढ़ जाती है और इस बात का पता भी चल जाता है कि वह कहाँ तक मौलिक है।

अस्तु, प्राचीन साहित्य का अध्ययन एक तो मूल स्रोतों के अध्ययन के फलस्वरूप प्राप्त तथ्यों के संकलन और साहित्य-सिद्धान्तों की स्थापना के लिए और दूसरे, कालातीत, अविकारी शाश्वत मानव-चेतना की खोज के लिए हो सकता है। दोनों में युगीन जीवन प्रतिबिम्बित रहता है, जीवन का यथार्थ रहता है, किन्तु मानव-चेतना का रूप खोजना साहित्येतिहास का मुख्य विषय है। उदाहरणार्थ, केशव कृत 'रामचन्द्रिका' का अध्ययन उनके युग से निरपेक्ष रूप में करने के साथ-साथ मानव-चेतना की एक सरणि के रूप में भी किया जा सकता है। पहला काम आलोचक का है, दूसरा काम साहित्येतिहासकार का। साहित्य में जब सैद्धान्तिक या रूपवादी,या रचना-पद्धति या शब्द-छन्द-प्रयोग से सम्बन्धित अराजकता फैलती है तो प्राचीन आदर्शों की दुहाई दी जाती है। यूरोप में ग्रीक साहित्य की दुहाई दी गई थी। साहित्येतिहासकार के लिए इस प्रकार की अराजकता या प्रगति का प्रश्न नहीं उठता। नैतिक कर्त्तव्याकर्त्तव्य की दृष्टि से हम पीछे मुड़ कर देख सकते हैं। किन्तु मानव-चेतना का विशुद्ध रूप खोजने के लिए आगे-पीछे देखने की ज़रूरत नहीं पड़ती। तो क्या भौतिक प्रगति और मानव-चेतना में कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं है? यह प्रश्न उस समय अनावश्यक प्रतीत होगा जब हम यह जान जाएँगे कि युगीन संस्थाओं, सामाजिक व्यवस्था, बौद्धिक मान्यताओं, विश्वासों आदि के अतिरिक्त एक स्वर प्रतिध्वनित होता है जो उच्चरित या लिपिबद्ध भाषा का नहीं, जो एक युग का नहीं, वरन् युग-युग का होता है, जो सार्वभौम, सार्वकालिक होता है। साहित्येतिहासकार को यह स्वर पहचानना होता है। लिपिबद्ध स्वर पहचानना आलोचक का कर्त्तव्य है। शेक्सपियर के आलोचकों का कहना है कि शेक्सपियर के नाटकों में स्ट्रैटफ़र्ड और वार्विक के जीवन के रीति-रस्म, भाषा, अन्धविश्वास की रंगीनियाँ होते हुए भी उनमें एक ऐसी चीज़ है जो कालातीत

और स्थानातीत है। प्रस्तुत विषय के सन्दर्भ में कवि या कलाकार का व्यक्तिगत दृष्टिकोण महत्वपूर्ण होते हुए भी अपरिहार्य नहीं है। इस सम्बन्ध में अपनी रचना 'रिवोल्ट ऑव इस्लाम' की भूमिका में शेली ने जो कहा है वह भी 'experience transformed into spiritual reality' की ओर संकेत करता है। कीट्स ने वर्ड्सवर्थ के सम्बन्ध में जो कहा है उसका भी यही आशय है, अर्थात् युगीन जीवनानुभव के आधार पर कवि या कलाकार शाश्वत सत्य और सुन्दर की उपलब्धि करता है। सत्य और सुन्दर की व्याख्या युगानुकूल हो सकती है, किन्तु अपने में वे बदलते नहीं। वे 'concentrated essence of the life of which the poet is a part and from which he cannot escape' होते हैं। कविता या कोई भी कलात्मक कृति केवल शाब्दिक रचना, या कल्पनाप्रसूत रचना ही न रह कर, कवि या कलाकार के व्यक्तित्व से ही सम्बन्धित न रह कर, उसके युग-मानस का स्पन्दन बन जाती है जिसे साहित्येतिहासकार 'distilled and concentrated experience transformed into spiritual reality' में देखता है। कलाकार एक ऐसे आदर्श संसार की रचना करता है जो न तो दार्शनिक के लिए और न साधारण इतिहासकार के लिए सम्भव है। भारतवर्ष और यूरोप में सभी आचार्यों ने कविता या कला की दिव्य अनुभूति का उल्लेख किया है। वह एक ऐसी अनुभूति है जो हमें भौतिक जगत् से ऊपर उठाती है। मनुष्य द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान का वह सार है। फूल भले ही अलग-अलग हों, किन्तु महक सब में रहती है। यहाँ ज्ञान से तात्पर्य पुस्तकों या प्रयोगशालाओं से प्राप्त ज्ञान नहीं है। यह मानव-जीवन का ऐसा ज्ञान है जो उसकी आत्मा से घनीभूत रूप में छन कर साहित्य में व्यक्त होता है। यूरोपीय इतिहास-लेखकों के मतानुसार स्पेन्सर ने ब्रिटिश इतिहास का 'spiritualized interpretation' दिया, दान्ते की कविता में अनेक मूक शताब्दियाँ मुखरित हो उठीं और एक अँगरेज़ आलोचक के अनुसार 'in his poem we see the essential truth that in this one poem we have in distilled and concentrated form the experience not merely of one man, but of the western European mind,' और मिल्टन की रचना भी 'concentrated thought of a world' का प्रतिनिधित्व करती है।

इस प्रकार जब हम साहित्येतिहास में मानव-चेतना की बात करते हैं तो उसका आशय इन्हीं 'distilled and concentrated forms of experience' से है। रचनाएँ भले ही भिन्न-भिन्न कवियों की हों, किन्तु यदि उनमें साधारण भौतिक वातावरण और घटनाओं का अनुभव करते हुए भी उनमें उनसे ऊपर उठने की प्रतिभा है तो वे 'breath and finer spirit of an age' के रूप में ही होंगी। साहित्येतिहास साहित्य में जिस जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है वह

समाजशास्त्रीय या आर्थिक या ऐतिहासिक न होकर, साहित्य को एक महान् कलाकार की कल्पनाप्रवणता और सर्जनात्मकता के माध्यम द्वारा स्वतःस्फूर्त आत्माभिव्यक्ति के रूप में होता है। वह शेली के शब्दों में, 'incarnation of the universal mind of a man' के रूप में होता है। यह 'universal mind एक युग के विविध प्रकार के प्रभावों को आत्मसात् करने के फलस्वरूप छन कर अवतरित होता है। उदाहरणार्थ, 'मानस', 'साकेत', 'कामायनी' आदि में युग की सीमा में बँधी हुई, स्थानीय और एकदेशीय अनेक बातों के रहते हुए भी उनमें सार्वभौम मानव-मन की अभिव्यक्ति हुई है। साहित्येतिहासकार का यही अभिप्रेत है। महान् कलाकार युग की सीमा में बँधे रह कर भी (युग के प्रभाव और जीवन की परिस्थितियों से बचना किसी भी कलाकार के लिए असम्भव है) अपनी प्रतिभा द्वारा अपने युग का ऐसा रूप प्रस्तुत करता है जो सत्य एवं यथार्थ होते हुए सामान्य दृष्टि से ओझल रहता है। यही उस युग की मानव-चेतना का प्रतीक बन जाता है। लोग महान् कृतियों का जब इस प्रकार का अध्ययन करते हैं, उनके संबंध में अपने विचार लिपिबद्ध करते हैं तो समझते हैं वे साहित्येतिहास का निर्माण कर रहे हैं। साहित्यिक आलोचना के इन उदाहरणों का अपना महत्व है और सदैव रहेगा। महत्वपूर्ण होते हुए भी साहित्येतिहास-प्रणयन की दृष्टि से वह अपूर्ण है। साहित्येतिहास के मूल में मानव है, उसकी आत्मा है, उसकी चेतना है और व्यापक मानव-संस्कृति के साथ अभिन्नत्व है। एक युग की आत्मा को पहचानने के लिए महान् कृतियों का ही नहीं, साधारण कृतियों का अध्ययन भी आवश्यक है। बेकन ने कहा था : 'all books, not alone the master-pieces'। इससे इतिहास समझने में आसानी होती है। छोटे-छोटे निष्कर्षों से ही बड़े निष्कर्ष निकलते हैं। वैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ साक्षी हैं। वर्तमान को समझने में अतीत का ऐसा अध्ययन सहायक सिद्ध होता है और इससे मानवात्मा की वह विवृति प्रकाश में आती है जो चिरन्तन है। कुछ लोगों की धारणा है कि साहित्येतिहास में एक युग के साधारण नगण्य तथ्यों और सामग्री का उपयोग कर लेना चाहिए। किन्तु यह दृष्टिकोण ग़लत है और यदि तथ्यों और सामग्री का विवेक के साथ उपयोग न हुआ तो उसका रूप विकृत हो जाता है। यह दोष विषय का, सामग्री का, ग्रन्थों का नहीं, इतिहास-रचयिता का है। यदि वह चिरन्तन मानव-चेतना-लोक में विचरण नहीं कर पाता तो यह उसका अपना दोष है। साधारण नगण्य बातों का अध्ययन अवश्य किया जाए, किन्तु व्यक्ति के रूप में साहित्यकार का, उसकी विभिन्न कृतियों का, उस पर पड़े प्रभावों और उसके युग का वह व्यापक मानव-सापेक्ष परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करता है। साहित्येतिहास को वह, स्पेन्सर के शब्दों में 'companion of deity' मान कर चलता है।

साहित्येतिहास के उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है

कि—(१) साहित्येतिहास व्यापक मानव-ज्ञान की अपने में एक स्वतन्त्र विशिष्ट विधा है। अन्य स्वतन्त्र विधाओं की भाँति उसकी अपनी अध्ययन एवं रचना-प्रणाली है और एक ओर यदि उसका संबंध साहित्यिक आलोचना आदि से है तो, दूसरी ओर, व्यापक मानव-संस्कृति के इतिहास से, (२) केवल तथ्य-संकलन और उन तथ्यों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत कर देना साहित्येतिहास नहीं है,(३) कवियों और लेखकों की रचनाओं का अध्ययन आवश्यक होते हुए भी, इतिहासकार के लिए उनकी जीवनियों या साहित्यिक आलोचना की अपेक्षा चारों ओर के जीवन की परिस्थितियों के फलस्वरूप उत्पन्न उनका विचार-क्षेत्र अधिक महत्वपूर्ण है और फिर उसके द्वारा मानव-सभ्यता एवं संस्कृति के अध्ययन का अंग बन जाना उसका लक्ष्य है। वह साहित्य का व्यापक रूप में अध्ययन करता है, (४) साहित्येतिहास का उद्देश्य कलाकार या अध्यापक पैदा करना नहीं है। वह संस्कृति का प्रचार भी नहीं करता। स्कूल-कॉलेजों में जो साहित्येतिहास पढ़ाया जाता है वह स्वतन्त्र विधा के रूप में साहित्येतिहास से भिन्न होता है। स्वतन्त्र विधा के रूप में साहित्येतिहास छोटे-से-छोटे कवि या लेखक को दृष्टिपथ में रखता है, (५) शाश्वत मानव को समझना साहित्येतिहास का उद्देश्य है और (६) साहित्येतिहास का निर्माण करने के लिए, केवल साधन रूप में, स्रोत-सामग्रियों (अर्थात् साहित्यकार ने किन-किन ग्रन्थों का अध्ययन किया, उनका प्रभाव किस रूप में आत्मसात् किया, किस वातावरण में पालित-पोषित हुआ आदि) की खोज, साहित्यकारों की जीवनियों का अध्ययन, पुराकाल-संबंधी जीवन के विविध क्षेत्रों का परीक्षण-विश्लेषण आवश्यक होते हुए भी वे अपने में इतिहास नहीं हैं।

यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल द्वारा दी गई साहित्य के इतिहास की परिभाषा से साहित्येतिहास का प्रवृत्यात्मक विकास समझा जा सकता है, तो भी उनकी यह परिभाषा : "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्तियों का स्थायी प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक उन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ-साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत-कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है, अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ में आवश्यक होता है", बहुत स्थूल है।

मानव-सभ्यता एवं संस्कृति के अध्ययन के लिए साहित्येतिहास उसी प्रकार ज्ञान की एक स्वतन्त्र विधा है जिस प्रकार विज्ञान, धर्म, समाज, राजनीति, दर्शन आदि स्वतन्त्र विधाएँ हैं। ये भी मानवात्मा के प्रकाश-स्तम्भ हैं। इनके और साहित्य के समन्वित अध्ययन से ही मानव-मूर्ति गढ़ी जा सकती है।

## साहित्येतिहास और आलोचना

साहित्येतिहास के विविध पक्षों पर विचार करते समय एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उभरता है कि साहित्येतिहास और आलोचना में क्या सम्बन्ध है। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है कि साहित्येतिहास में आलोचना रह सकती है, किन्तु वह अपने में इतिहास नहीं है। दोनों अत्यन्त महत्वपूर्ण अलग-अलग विधाएँ हैं। आलोचना साहित्य की एक सशक्त विधा है। इसी प्रकार साहित्येतिहास भी। जब इन दोनों विधाओं को एक-दूसरे के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यदि मोटे तौर से मानव के कार्य-कलाप का काल-क्रमानुसार व्यवस्थित विवरण इतिहास है, तो मानवीय संवेदनाओं की रमणीय अभिव्यक्ति साहित्य है और साहित्येतिहास साहित्य में अभिव्यक्त मानव-चेतना की खोज है। साहित्येतिहास न विशुद्ध साहित्य है, न कोरा इतिहास। साहित्य उसकी मूल चेतना अवश्य है। इसके विपरीत आलोचना में गुण-दोष-विवेचन की प्रधानता रहती है, वह किसी कलात्मक कृति का रसास्वादन कराने में सहायक होती है, और साहित्य से सम्बन्धित होने के कारण वह भाव और चिन्तन-प्रधान होती है और उसका भी अपना व्यापक क्षेत्र होता है। रसास्वादन कराना उसका मुख्य उद्देश्य है, मूल्यांकन करना गौण उद्देश्य है। वास्तव में साहित्येतिहास और आलोचना एक-दूसरे को स्पर्श करते हुए, एक-दूसरे के पूरक होते हुए, एक-दूसरे को अपने में समेटे हुए, एक-दूसरे से अछूते न होते हुए दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। दोनों के योग से साहित्य-सिद्धान्त निश्चित होते हैं। आलोचना के लिए ऐतिहासिक पीठिका आवश्यक अंग बन जाती है। भारतेन्दु युग और भारतेन्दुकालीन साहित्य की आलोचना और छायावाद की आलोचना भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग की ऐतिहासिक पीठिका के बिना सम्भव नहीं। ऐतिहासिक पीठिका समझे बिना हम साहित्यकारों के सम्बन्ध में ग़लत धारणा बना सकते हैं। साहित्यिक रूपों का उद्भव और विकास या उनका परित्याग जीवन की युगीन परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। भारतेन्दु युग में नाट्य-रचना क्यों प्रमुख थी और बीसवीं शताब्दी में उपन्यास-रचना क्यों प्रमुख हो गई है, इसके ऐतिहासिक कारण हैं। क्लासिकल रचनाओं की प्रसिद्धि एक युग से दूसरे युग में बदलती रहती है। इतिहास अतीत की व्याख्या करते हुए वर्तमान का विकास प्रस्तुत करता है। इतिहास बताता है कि 'क' से 'ख' की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई। आलोचना कुछ सिद्धान्तों के आधार पर 'क' को 'ख' से अच्छा बताती है। वह व्यक्ति और युग दोनों को देखती है। वह साहित्यकार का व्यक्तित्व परखती है, उसके जीवन का विश्लेषण करती है। विषय-वस्तु की दृष्टि से दोनों में भेद है। आलोचना समकालीन होती है, साहित्येतिहास गत युग का अन्वेषण कर

रचना का उद्देश्य ढूँढता है। बिना आलोचना-पर्यालोचना के स्पष्ट और अस्पष्ट को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। आलोचना, जैसे शोधपरक आलोचना, का सम्बन्ध अतीत से भी हो सकता है। इतिहासकार अतीत के सन्दर्भ में वर्तमान की खोज करता है। आलोचक कृति को उसकी अपनी भीतर की कलात्मकता के आधार पर भी चुन सकता है। साहित्येतिहासकार के लिए यह सम्भव नहीं। उसे अकलात्मक रचनाएँ भी देखनी पड़ती हैं। उसके लिए एक साधारण नागरिक और एक सम्राट् दोनों महत्वपूर्ण हैं। आलोचक कृति विशेष या व्यक्ति विशेष की आलोचना स्वतन्त्र रूप में कर सकता है या कृति के किसी एक पक्ष का अध्ययन कर सकता है, या किसी रचना का रचना-काल या रचयिता के सम्बन्ध में जाने बिना उसकी कलात्मकता का आस्वादन कर सकता है। साहित्येतिहासकार को कृति का प्रभाव भी देखना पड़ता है। आलोचक देश और काल के महत्वपूर्ण आयामों में शाश्वत तत्त्वों का उद्घाटन करता है। इतिहासकार काल-क्रम और युगीन वातावरण को ध्यान में रखते हुए परिवर्तनशील तत्त्वों का विश्लेषण करता है। आलोचना में इतिहास की विवेचन-शैली काम में नहीं लाई जाती। इतिहास इस प्रवृत्ति से सर्वथा अलग नहीं। दोनों सूत्रात्मक शैली का उपयोग कर सकते हैं। हिन्दी साहित्य के लगभग सभी प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत देखी जाती है। इतिहास यदि परम्परामूलक है, तो आलोचना मूल्यों का विवेचन करती है। आलोचक साहित्य का अध्ययन समकालिक सृष्टि के रूप में करता है, तो इतिहासकार काल-क्रम की शृंखला में गुँथी हुई रचनाओं की एक शृंखला का इतिहास-प्रक्रम के अविभाज्य अंग के रूप में अध्ययन करता है। अतः समानता और अन्तर के रहते हुए भी दोनों का सम्बन्ध नकारा नहीं जा सकता। इतिहासकार में आलोचनात्मक क्षमता अपेक्षित है और आलोचक में इतिहास के सम्बन्ध-सूत्रों का ज्ञान आवश्यक है।

## साहित्येतिहास के विकास के रूप

साहित्येतिहास का विकास या तो रूपात्मक हो सकता है या प्रवृत्यात्मक या गुणात्मक। साहित्य के विविध रूपों का विकास खोजना उसका रूपात्मक विकास है। किसी युग विशेष की किन-किन परिस्थितियों और जीवन की किन-किन आवश्यकताओं के फलस्वरूप साहित्य के किस रूप का विकास हुआ, इतिहासकार का विषय बन जाता है। वह उनके पीछे छिपी शक्तियों का विश्लेषण कर अपने निष्कर्ष पर पहुँचता है। उदाहरणार्थ, मध्य युग में गद्य की अपेक्षा काव्य की प्रमुखता क्यों रही, अथवा ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में खड़ीबोली गद्य और गद्य-रचनाओं की, भारतेन्दु युग में नाट्य-रचनाओं की प्रधानता क्यों रही, अथवा, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास क्यों अधिक लिखे

गए और अन्य कोटि के उपन्यासों में समाज-सुधारवादी और राष्ट्रीय जागरण की भावना क्यों मिलती है, इन सब बातों का विश्लेषण करना, उनके पीछे निहित जीवन-शक्तियों का अध्ययन कर उनका विकास-क्रम देखना साहित्येतिहास का रूपात्मक रूप कहा जाएगा। हिन्दी में ब्रजरत्नदास और डॉ० सोमनाथ गुप्त ने हिन्दी का नाट्य-रूप लेकर इतिहास लिखे। किन्तु एक तो उनमें गहनता का अभाव है, दूसरे हिन्दी में ऐसे प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या विरल है। विश्वविद्यालयों में लिखे गए अनेक ऐसे शोध-प्रबन्ध हैं जो इतिहास के रूपात्मक विकास का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। किन्तु इन शोध-प्रबन्धों में से अधिकांश शोध-प्रबन्ध अप्रकाशित हैं। प्रवृत्यात्मक विकास वह होता है जिसमें इतिहास-लेखक समाज में प्रचलित अनेक प्रवृत्तियों या चित्तवृत्तियों की व्याख्या सांस्कृतिक या मनोवैज्ञानिक या सामाजिक या दार्शनिक या भौतिक इन्द्रियपरक पद्धति आदि के आधार पर कर उनका साहित्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। इसीलिए स्पेंग्लर, टॉयनबी, सोरोकिन आदि के मतानुसार किसी जाति या राष्ट्र का अवबोधन उसके साहित्य से किया जा सकता है। अनेक यूरोपीय विद्वानों का यह मत रहा है कि महाभारत पढ़ कर एक भारतवासी की चारित्रिक और नैतिक विशेषताएँ आसानी से समझी जा सकती हैं। किसी समाज की चित्तवृत्ति या तो राजाश्रित हो सकती है या लोकाश्रित। मध्य युग में वह राजाश्रित थी, आधुनिक काल में लोकाश्रित है। मनोविज्ञान का आधार ग्रहण करने पर ज्ञान (शास्त्रवादी), भाव (स्वच्छन्दतावादी) और क्रिया (व्यावहारिक) के आधार पर इतिहास का प्रणयन किया जा सकता है अथवा इतिहास को सतोगुणी वृत्तियों (तत्त्वपरक) अथवा आदर्शपरक और इन्द्रियपरक दृष्टियों से देखा जा सकता है। आदर्शपरक रूप तत्त्वपरक और इन्द्रियपरक रूपों के बीच का रूप है। तत्त्वपरक और आदर्शपरक में बहुत अन्तर नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो तीनों के समन्वित रूप से ही विकास देखा जाना चाहिए। यही प्रकृति का नियम है और इसी नियम के अनुसार मानव का विकास हुआ है। प्रकृति से संघर्ष करते हुए अनेक जीव नष्ट भी हो जाते हैं। जो शक्तिशाली हैं वे जीवित रह जाते हैं। यही प्रक्रिया साहित्य पर भी लागू होती है। गुणात्मक विकास में निरन्तर बदलते हुए मूल्यों का विश्लेषण-विवेचन किया जाता है। उत्पादन और वितरण के साधनों का विकास होने और उन पर अधिकार प्राप्त कर लेने वाले वर्ग के साथ-साथ जीवन-मूल्यों में परिवर्तन होता रहता है। वैज्ञानिक और तकनीकी विकास उसे सम्बल प्रदान करता है। इन मूल्यों की कसौटी पर साहित्य को कस कर परखना उसका गुणात्मक रूप कहा जाता है। साहित्येतिहास के विकास के ये रूप महत्वपूर्ण हैं, किन्तु उसके उसी रूप के सन्दर्भ में जिसकी चर्चा पीछे की गई है।

# ६. काल-विभाजन

इतिहास पर विचार करते समय पीछे यह कहा जा चुका है कि इतिहास एक व्यक्ति की नहीं, मानव के चौमुखी समग्र जीवन की खोज है। इसलिए मानव-जीवन के अजस्र प्रवाह में काल-विभाजन कोई अर्थ नहीं रखता। उसका यह प्रवाह पूर्णतः बदल जाता हो, ऐसा नहीं है। किन्तु इतिहास के अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से यादृच्छिक रूप में उसे विभिन्न कालों में विभाजित कर लिया जाता है ताकि एक काल विशेष में उसके जीवन में आरोह-अवरोह का और उसके कारणों का पता लगाया जा सके। समान साहित्यिक आदर्शों, मानकों, रूढ़ियों का जो प्रचलन रहता है उसका अध्ययन कर हम उन आदर्शों, मानकों, रूढ़ियों के उद्भव, विकास और लोप के कारणों का, एक प्रणाली का दूसरी प्रणाली में परिवर्तित होने के कारणों का, पता लगाने की चेष्टा करते हैं। 'काल' एक निरन्तर प्रवहमान ऐतिहासिक प्रक्रिया में निहित आदर्शों का पता लगाता है। कृतियों का अध्ययन उस काल की अवधारणा निश्चित करने के लिए किया जाता है, न कि टाइप या वर्ग के रूप में। काल-विशेष आदर्शों की एक व्यवस्था से अनुप्राणित रहता है और कोई एक कला-कृति उसे उभारने में असमर्थ रहती है। इसलिए साहित्येतिहास का प्रणयन करते समय काल-विभाजन भी एक महत्वपूर्ण समस्या है और इस सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य के विद्वानों की उपलब्धियाँ सर्वविदित हैं। हिन्दी साहित्य के प्रमुख कालों को लेकर ऐसा विवाद चलता रहा है जो सम्भवतः कभी समाप्त ही न हो। 'आदि काल', 'मध्य काल', (भक्ति और रीति काल), आधुनिक काल या ब्रिटिश काल (भारतेन्दु काल, द्विवेदी काल, छायावादी-रहस्यवादी काल, पूर्व-प्रसाद काल, प्रगतिवादी काल, प्रयोगवादी काल, स्वतन्त्रता काल) आदि नामों को लेकर विवाद चलता रहता है और इन शब्दों की व्याख्याएँ और पुनर्व्याख्याएँ होती रहती हैं। हिन्दी में इतिहास, प्रसिद्ध साहित्यकारों, विधाओं, प्रवृत्तियों, राष्ट्रीय गतिविधियों, साहित्यिक आन्दोलनों आदि के आधार पर विभिन्न कालों का नामकरण किया गया है जो सर्वमान्य नहीं है। वास्तव में काल-विभाजन का कोई आधार होना चाहिए। एक विद्वान् के अनुसार काल एक ऐसी इकाई है जिसका स्वरूप अन्तःप्रज्ञा से जाना जा सकता है, उस पर अतिवादी

दृष्टिकोण आरोपित नहीं होना चाहिए और वह न तो भाषागत लेबिल है और न दिशाहीन अविच्छिन्न प्रवाह। जीवन के अपार वैविध्य में काल मूलत: एक रूप है। वह प्रवाह-रूप है। इसका पूर्वापर विच्छिन्न नहीं होता। वह युग, वर्ष और कल्प के रूप में प्रकट होता प्रतीत होता है, किन्तु वह टूटता नहीं, जलता नहीं, और दृश्य होने पर दीखता भी नहीं। व्यावहारिक अवस्था में ही वह विभिन्न पदों पर प्रतिष्ठित होता है। सत्ता मात्र ही उसका स्वरूप है। इसलिए काल-विभाजन को आत्मपरक दृष्टि से देखना उचित नहीं और विभिन्न कालों के बीच विभाजन-रेखा खींचना उसी प्रकार दुस्तर कार्य है जिस प्रकार जल-प्रवाह के बीच विभाजन-रेखा खींचना। तब भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अथवा किसी योजना के अनुसार हम काल-विभाजन करते ही हैं और शताब्दियों, दशकों या वर्षों के हिसाब से विश्लेषणात्मक इतिहास लिखे जाते रहे हैं और लिखे जाते रहेंगे। इस सम्बन्ध में कोई-न-कोई मानदण्ड बना लिया जाता है। किसी पुस्तक या विषय के चयन के लिए वह सुविधाजनक विभाजन बन जाता है। केवल तिथियाँ ग्रन्थ-सूची तैयार करने के काम में लाई जा सकती हैं। उनका साहित्येतिहास से कामचलाऊ सम्बन्ध है।

## काल-विभाजन के आधार

काल-विभाजन का आधार क्या हो सकता है, इस सम्बन्ध में स्वयं हिन्दी साहित्य तथा अन्य भाषाओं के साहित्येतिहासों को देखते हुए एक ऐसी निश्चित कसौटी निर्धारित नहीं की जा सकती जिस पर सभी इतिहासों के आधार समान रूप से कसे जा सकें। सम्भवत: किसी भी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन पूर्णत: वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। समाज के प्रत्येक युग की विचारधारा का अपना इतिहास होता है। उसी के अनुसार उसके साहित्यिक काल-विभाजन के आधार प्रस्तुत होते हैं। सामान्यत: इस समय हिन्दी में काल-विभाजन का प्रमुख आधार, प्राप्य ग्रन्थों की संख्या नहीं, प्रवृत्ति विशेष या युग विशेष का मूल प्रेरणा-स्रोत है। नामकरण वास्तव में ऐसा होना चाहिए जिससे युग की प्रमुख प्रवृत्ति प्रतिबिम्बित हो सके। काल-विभाजन राजनीतिक या ऐतिहासिक या सामाजिक परिवर्तनों के अनुसार भी किया जा सकता है। राजवंशों के आधार पर कालों का नामकरण करने की प्रथा अब प्रचलित नहीं रही। हिन्दी का काल-विभाजन ऐतिहासिक, राजनीतिक, साहित्यिक और कलात्मक नामों का गड्डमड्ड रूप है। हिन्दी तथा अँगरेज़ी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में काल-विभाजन का आधार प्रधानत: राजनीतिक या ऐतिहासिक या सामाजिक रहा है, क्योंकि जीवन का, फलत: साहित्य का, स्वरूप निश्चित रूप से इन परिवर्तनों के कारण माना जाता है। काल-विभाजन के मूल में किसी-न-किसी रूप में परिवर्तनशीलता है। जीवन और

समाज में परिवर्तन होने के साथ-साथ साहित्य के इतिहास में परिवर्तन होते रहते हैं। जिस काल या युग में समाज का जो रूप होता है, साहित्य का उसी रूप के साथ सामंजस्य स्थापित हो जाता है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, विभिन्न युगीन मानव-चेतना की अविच्छिन्न धारा की खोज करना, उसका अनुशीलन एवं मूल्यांकन करना ही साहित्य का इतिहास है। यह कार्य राजाओं के शासन-काल के आधार पर भी किया गया है, किन्तु जनतांत्रिक विचारधारा के विकसित होने के साथ-साथ यह आधार छोड़ दिया गया है। अँगरेज़ी साहित्य के इतिहास में एलिज़बेथ युग, विक्टोरियन युग जैसे नाम अब भी प्रचलित हैं, किन्तु बौद्धिक इतिहास की नई योजना के अनुसार इन शब्दों ने नए अर्थ ग्रहण कर लिए हैं। ये क्रान्तियाँ अपने-अपने कालों की प्रतीक बन गई हैं। अब शासक के राज्यारोहण या मृत्यु पर बल न दिया जाकर, मानव-मस्तिष्क के उस विविध क्रिया-कलाप पर या बौद्धिक जीवन पर, उस जीवन-पद्धति पर बल दिया जाता है जो उस काल में सिमट जाती है। राजनीतिक-ऐतिहासिक उद्‌गम रखने वाले शब्द भी साहित्येतिहास में नया और निश्चित अर्थ ग्रहण कर चुके हैं, तो भी वर्तमान नामों की व्युत्पत्ति किंचित् भ्रामक है। यह भ्रान्ति स्वयं इतिहास के कारण उत्पन्न हुई है। साहित्य के इतिहास में लेखकों के विचारों, संकल्पनाओं, सचेतन रूप से तैयार किए गए कार्यक्रमों, आत्मविवेचन से उपलब्ध मूल्यों, आत्मसजगता और आत्मालोचन को उसी प्रकार विभाजन का आधार बनाया जाना चाहिए जिस प्रकार राजनीतिक इतिहास में बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में सम्प्रति जिस काल में जिस विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता पाई गई है, उसका नामकरण उन रचनाओं के आधार पर कर लिया गया है। हिन्दी में भक्ति काल, रीति काल नाम ऐसे ही नाम हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि प्रत्येक काल की रचनाओं में कुछ विशेष सामान्य लक्षण पाए जाते हैं, तो भी इसका यह तात्पर्य नहीं कि उस काल में भिन्न प्रकार की रचनाएँ नहीं पाई जातीं। एक काल में जिस प्रवृत्ति का प्राबल्य पाया गया उसी के आधार पर काल का नामकरण कर लिया गया है। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए कि साहित्य-क्षेत्र में काल-विभाजन का यह तात्पर्य नहीं होता कि एक काल के समाप्त होते ही दूसरे दिन साहित्यिक विचारधारा दूसरी दिशा में प्रवाहित होने लगती है। साहित्य में गणित के नियम लागू नहीं होते। एक काल की विचारधारा अपने क्षीण रूप में दूसरे काल में भी प्रचलित रहती है या रह सकती है। मनुष्य की मोहजन्य प्रवृत्ति इसके लिए उत्तरदायी है। एक प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्ति का पूर्ण अन्त तो वैसे भी नहीं होता। साहित्यिक परिवर्तन यांत्रिक क्रिया भी नहीं है कि जीवन की परिस्थितियों के बदलते ही साहित्य भी बदल जाय। साहित्य के बदलने में समय लगता है। कभी-कभी साहित्य समाज का नियंत्रण करता और नवीन

मार्ग सुझाता अवश्य दिखाई देता है, किन्तु प्राय: देखा यह जाता है कि साहित्य सामाजिक प्रगति से कुछ पिछड़ा रहता है। कुछ दिन बाद ही वह सामाजिक प्रगति के अनुकूल होता है। शक्तिशाली साहित्य वही है जो युगानुकूल परिवर्तित होकर समाज को प्रगति और सुख-सम्पन्नता की ओर ले जाय। प्रतिभाशाली साहित्यकार लकीर का फ़कीर नहीं होता। हिन्दी में काल-विभाजन का एक और आधार प्रतिभाशाली साहित्यकारों के नामों का है। ये साहित्यकार अपनी प्रतिभा के बल से साहित्यिक गतिविधि को एक विशेष दिशा की ओर मोड़ने में सफल होते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'भारतेन्दु युग' (कुछ विद्वानों के अनुसार 'प्रभात ज्ञान-प्रसार काल') और 'द्विवेदी युग' (कुछ विद्वानों के अनुसार 'सान्ध्य ज्ञान-प्रसार काल') ऐसे ही युग हैं। ऐतिहासिक और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभावान्तर्गत भी काल-विभाजन निर्धारित कर लिया जाता है।

अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में तीन नाम प्रचलित रहे हैं—(१) आदि काल, (२) मध्य काल (भक्ति काल और रीति काल), और (३) आधुनिक काल। ये नाम व्यवहार में सर्वमान्य हो चुके हैं। किन्तु एक तो इन तीनों युगों की परिभाषा निर्धारित करना, उनकी विशेषताएँ निश्चित करना दुष्कर कार्य है। दूसरे, गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर ये तीनों नाम पूर्णत: सन्तोषप्रद सिद्ध नहीं होते। 'आदि काल' नाम किसी ऐतिहासिक या राजनीतिक परिस्थिति पर आधारित नहीं है। सामान्यत: १०वीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक का काल उषा काल या 'आदि काल' के नाम से अभिहित किया जाता है। गार्सां द तासी ने तो कोई काल-विभाजन नहीं किया। शिवसिंह सेंगर ने भी इस ओर कोई रुचि प्रकट नहीं की। इतिहास हमें बताता है कि हिन्दी साहित्य का आदि युग सामन्ती शौर्य का युग था। इसलिए सामन्तों के शौर्य और वीर कृत्यों का गान करने वाले प्रशंसात्मक ग्रन्थों के आधार पर उसे 'वीरगाथा काल' कहा गया। सर्वप्रथम सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान' (१८८९ ई०) में इस काल को 'Bardic Period' (७००-१३०० ए० डी०) (वीरगाथा काल) नाम दिया जिसमें उन्होंने पुष्य कवि, खुमानसिंह, कुमारपाल, चन्द्र कवि (चन्दबरदाई), जगनिक, जोधराज आदि कवियों का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा भी है: "As far as my information goes, the earliest vernacular literature of Hindustan is the bardic chronicles of Rajputana." इसी आधार पर स्वर्गीय लाला सीताराम ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिए किए गए हिन्दी काव्य-संकलन (भाग १) का नाम 'Bardic Poetry' (१९२१) रखा था। मिश्रबन्धु ने अपने 'मिश्रबन्धु विनोद' (प्रथम भाग, १९१३ ई०) में 'आदि प्रकरण' नाम देकर उसके अन्तर्गत 'प्रारम्भिक एवं पूर्व-माध्यमिक हिन्दी' उपशीर्षक दिए हैं। पहले अध्याय

में हिन्दी की उत्पत्ति और काव्य-लक्षण (वैदिक समय से सं० ७०० तक), दूसरे अध्याय में 'पूर्व-प्रारम्भिक हिन्दी (सं० ७०० से १३४७ तक)—१. चंद-पूर्व की हिन्दी (सं० ७००-१२००), तीसरे अध्याय में पूर्व-प्रारम्भिक हिन्दी—२. रासो काल (सं० १२०१-१३४७),चौथे अध्याय में 'उत्तर प्रारम्भिक काल (सं० १३४८-१४४४)' का उल्लेख किया है। ग्रियर्सन और मिश्रबन्धु में यह अन्तर है कि ग्रियर्सन ने केवल वीरगाथात्मक ग्रन्थों का उल्लेख किया है और मिश्रबन्धु ने सिद्ध-नाथ और जैन कवियों का भी 'आदि प्रकरण' के अन्तर्गत उल्लेख किया है। विद्यापति, रैदास, कबीर का उल्लेख उन्होंने 'आदि प्रकरण—पूर्व-माध्यमिक' के अन्तर्गत किया है। इसके बाद रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि इतिहास-लेखकों ने 'Bardic=वीरगाथा' नाम ही ग्रहण किया और लगभग सभी ने अपभ्रंश और देश-भाषा काव्य की 'पृथ्वीराज रासो', 'बीसलदेव रासो','खुमान रासो','हम्मीर रासो','विजयपाल रासो','परमाल रासो', 'जयमयंकजसचन्द्रिका','जयचन्दप्रकाश', 'कीर्त्तिलता', 'कीर्त्तिपताका','आल्हखण्ड', 'परमाल रासो' जैसी प्रमुख रचनाओं (और अमीर खुसरो कृत पहेलियों तथा कहमुकरियों और विद्यापति की पदावली) के आधार पर 'वीरगाथा काल' नाम रखा था जो ग्रियर्सन और मिश्रबन्धु का मिलाजुला रूप है। किन्तु चन्द्रधर शर्मा गुलेरी द्वारा पुकारी गई 'पुरानी हिन्दी' (दे० 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', भाग २, अंक ४) और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन (जिनका उल्लेख मिश्रबन्धु ने भी किया है) द्वारा 'हिन्दी काव्य-धारा' (१९४५) में आठवीं और तेरहवीं शताब्दियों के बीच स्वयंभू, सरहपा, भुसुकपा, सबरपा (आठवीं शताब्दी), डोंबिपा, गुण्डरीपा, लुइपा, विरूपा, दारिकपा (नवीं शताब्दी), तिलोपा, पुष्पदन्त, शान्तिपा, रामसिंह, धनपाल (दसवीं शताब्दी), अब्दुर्रहमान, कनकामर, मुनि जिनदत्त सूरि (ग्यारहवीं शताब्दी), हेमचन्द्र, सोमप्रभ, शालिभद्र, विनयचन्द्र, चन्द (बारहवीं शताब्दी) और जज्जल, लक्खण, राजशेखर सूरि आदि (तेरहवीं शताब्दी) की रचनाओं की भाषा (पुरानी हिन्दी), विद्यापति कृत 'अवहट्ठ' में रचित 'कीर्त्तिलता' (प्रका० १९२४, १९२९) और 'कीर्त्तिपताका' और राजस्थानी के आदि काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' (प्रका० १९३४), अनेक प्राचीन जैन कवियों की पुरानी राजस्थानी या 'जूनी गुजराती' में लिखित रचनाओं आदि के कारण हिन्दी साहित्य का यह काल 'आदि काल' कहा गया। इस काल में उपलब्ध विपुल सामग्री से हिन्दी साहित्य के परवर्ती काव्य-रूपों और भाषा-रूपों (दे० प्रस्तुत लेखक द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में 'अपभ्रंश और हिन्दी का सम्बन्ध' शीर्षक अध्याय) का विकास हुआ। 'आदि' या 'उषा' काल से तात्पर्य केवल हिन्दी भाषा और साहित्य (काव्य-रूपों और शैली) का 'आदि' है। इस दृष्टि से तो यह नाम ठीक जान पड़ता है। किन्तु इससे इस काल की प्रवृत्ति या प्रवृत्तियों का बोध नहीं होता। सर जॉर्ज

ग्रियर्सन तथा मिश्रबन्धु को छोड़ कर उनके परवर्ती प्रमुख लेखकों ने इसे 'वीरगाथा काल' कहा था, जो उस समय तक उपलब्ध सामग्री को ध्यान में रखते हुए ठीक था। किन्तु इस काल में वीरगाथात्मक रचनाएँ वीरगाथाएँ कम और आश्रय-दाताओं की कल्पित-अकल्पित प्रवृत्तियों के प्रकाशन के रूप में अधिक सिद्ध हुई हैं। वे प्रशंसात्मक रचनाओं के रूप में अधिक हैं। साथ ही उनमें से अनेक तो नोटिस मात्र हैं। वे उपलब्ध नहीं हैं। अन्य लेखकों ने फिर उसे 'सिद्ध-सामन्त काल' (राहुल जी), उनकी सी विचारधारा वालों ने सिद्ध-नाथ कवियों तथा सामन्ती रचनाओं को ध्यान में रखते हुए इसे 'लोक साहित्य तथा सामन्ती दरबारी गाथा काल', कुछ ने केवल 'चारण काल' आदि नामों से भी पुकारा। 'चारण काल' तो 'वीरगाथा काल' का रूपान्तरित नाम है। 'सिद्ध-सामन्त काल' नाम कुछ उपयुक्त है, यद्यपि इससे जैन साहित्य आदि का बोध नहीं होता। किन्तु इन नामों का अधिक प्रचार न हो सका और कोई उपयुक्त नाम न सूझ पड़ने के कारण इसे 'आदि काल' कहा जाने लगा और वह इस समय सर्वग्राह्य है। 'आदि काल' नाम किसी भी परिस्थिति में और किसी के भी द्वारा प्रयुक्त हुआ हो, इसमें 'आदि' शब्द के प्रयोग की प्रेरणा मिश्रबन्धु के 'आदि प्रकरण' नाम से मिली होगी। 'आदि काल' के अन्तर्गत जिन कवियों और जिस सामग्री का उल्लेख किया जाता है वह लगभग वही है जो 'मिश्रबन्धु-विनोद' के 'आदि प्रकरण' के विभिन्न अध्यायों में है। इसलिए 'आदि' शब्द मिश्रबन्धु से लिया गया माना जा सकता है।

लेकिन इस 'आदि' शब्द की संगति फिर 'मध्य' और 'आधुनिक' के साथ नहीं बैठती। नाम 'आदि', 'मध्य', और 'अन्त' होते, तब तो ठीक था। किन्तु ऐसा तो नहीं है। इतिहास का 'अन्त' होता भी नहीं है। 'मध्य काल' और 'आधुनिक काल' नाम इतिहास-सापेक्ष हैं। 'आदि काल' ऐसा नहीं है, क्योंकि, स्पष्ट है, यह 'आदि काल' भारतीय इतिहास का आदि काल नहीं है, जबकि 'मध्य काल' और 'आधुनिक काल' सम्पूर्ण भारतीय इतिहास के 'मध्य' और 'आधुनिक' काल हैं। इस महत्वपूर्ण युग की समस्त प्रवृत्तियाँ 'आदि काल' नाम से उभर भी नहीं पातीं—वैसे अन्धे का नाम 'नैनसुख' भी हो सकता है।

ईसा की १६वीं-१७वीं शताब्दियों का काल, अर्थात् एक प्रकार से मध्य काल—ग्रियर्सन द्वारा 'Augustan age' ('the golden age of Roman Literature' या इँगलैण्ड की क्वीन एन. के समय का अँगरेज़ी साहित्य) कहा गया है। हम लोग भी मध्य युग को 'स्वर्ण युग' कहते हैं। मिश्रबन्धु ने इसे 'प्रौढ़ माध्यमिक-प्रकरण' (सौर काल, तुलसी काल आदि) नाम दिया है। 'मध्य काल' नाम के सम्बन्ध में भी कठिनाई उपस्थित होती है। एक तो यह नाम सामान्य भारतीय इतिहास के मध्य काल के अनुकरण पर है, न कि किसी साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर। लेकिन इस दृष्टि से कोई आपत्ति न की जाय तो कोई विशेष हानि

नहीं। वास्तविक कठिनाई तो उस समय उत्पन्न होती है जब 'मध्य काल' के अन्तर्गत 'भक्ति काल' और 'रीति काल' दोनों माने जाते हैं। 'मध्य काल' एक ऐसा नाम है जिसका उच्चारण करते ही एक विशेष प्रेरणा-स्रोत, 'पौराणिक प्रवृत्ति', सामने आ जाता है। जहाँ-जहाँ 'मध्य काल' के सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन किया जाता है, वहाँ-वहाँ इसी पौराणिक प्रवृत्ति पर बल दिया जाता है। हिन्दी का भक्ति साहित्य भी पौराणिक प्रवृत्तियों से ओतप्रोत है। वह सामन्ती दरबारों से बाहर का साहित्य है। इसलिए 'आदि काल' की तुलना में सामन्ती माहौल से अलग रचा जाने के कारण कुछ विद्वानों ने 'भक्ति काल' को 'लोक पुनर्जागरण काल' कहना चाहा है। उस समय जीवन का दृष्टिकोण ही पौराणिक था। इसलिए 'मध्य काल' के साथ 'भक्ति काल' तो चल सकता है, किन्तु 'रीति काल' जीवन के प्रति दृष्टिकोण की दृष्टि से ही नहीं, साहित्य-रचना की दृष्टि से भी, उसके साथ उसी प्रकार नहीं खपता जिस प्रकार 'भक्ति काल' 'आदि काल' या 'रीति काल' के साथ। 'भक्ति काल' और 'रीति काल' की मूल प्रवृत्तियों और प्रेरणा-स्रोतों में भी पार्थक्य है। अतएव 'भक्ति काल' और 'रीति काल' दोनों को एक 'मध्य काल' के अन्तर्गत रखना क्या समीचीन है ? क्या 'मध्य काल' और 'भक्ति काल' को एक मान कर 'रीति काल' को उनसे अलग 'स्वतन्त्र काल' नहीं माना जा सकता ? 'रीति काल' को 'रीति काल' ही कहा जाय या 'श्रृंगार काल' या 'कला काल' या 'अलंकृत पद्य काल' कहा जाय, इस विवाद में पड़ने की यहाँ आवश्यकता नहीं—यद्यपि यह विषय भी विचारणीय है। हिन्दी के कवियों द्वारा संस्कृत के रीति-ग्रन्थों—लक्षण-ग्रंथों—की प्रणाली ग्रहण करने के कारण उसे 'रीति काल' कहा गया। विविध लक्षणों के उदाहरणों में श्रृंगार रस की प्रधानता (अन्य रस गौण रूप में आए हैं) होने के कारण कुछ लोगों ने उसे 'श्रृंगार काल' नाम से पुकारा। उत्तर मध्य काल की स्थापत्य कला की पच्चीकारी और कलात्मकता की भाँति भाषा की पच्चीकारी प्रदर्शित होने के कारण उसे 'कला काल' नाम देने का सुझाव सामने आया। उत्तर मध्य काल की चित्रकला और स्थापत्य कला के अलंकरण के समान ही कविता में आलंकारिक चमत्कार रहने के कारण उसे 'अलंकृत पद्य काल' कहने की इच्छा भी कुछ लोगों की हुई। एक कवि ने तत्कालीन 'कविता कामिनी' को 'जौहरी की-सी दुकान' कहा भी है। किन्तु इन सब विशेषताओं और सुझावों के रहते हुए भी 'रीति काल' नाम ही अधिक ग्राह्य सिद्ध हुआ है।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन ऐतिहासिक और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव पर ही अवलम्बित है, किन्तु विशेष प्रकार की रचनाओं (छायावादी-रहस्यवादी युग, प्रगतिवादी युग, प्रयोगवादी युग), प्रतिभाशाली साहित्यकारों के नामों के आधार आदि पर भी काल-विभाजन का अभाव नहीं है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विदेशों में तो शासकों के नाम

पर भी नामकरण किए गए हैं। हिन्दी में वंशगत, भौगोलिक और भाषागत आधारों पर काल-विभाजन नहीं हुआ।

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में भारत अँगरेज़ी साम्राज्य का अंग बना जिसके फलस्वरूप अनेक राजनीतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, शैक्षणिक परिवर्तन हुए और यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप एक विशेष वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ जिससे प्रेरित होकर मध्ययुगीन पौराणिक धारणाओं को परखा जाने लगा, उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा। एक नई प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित हुई। इन सभी कारणों से अँगरेज़ों का शासन-काल यूरोपीय प्रभाव के सन्दर्भ में 'आधुनिक काल' कहा जाता है। आधुनिक काल में एक ऐसी व्यवस्था का जन्म हुआ जो पहले कभी नहीं थी और जिसने भारतवासियों को अपने अधिकारों के प्रति सजग किया, उनमें राष्ट्रीय और स्वातन्त्र्य भावना का उदय हुआ और मानवतावादी दृष्टिकोण ने उनके सामने एक नया आदर्श उपस्थित किया। १९वीं शताब्दी के मध्य से इस समय समस्त भारतीय, फलतः हिन्दी साहित्य में भी, पश्चिम के सम्पर्क के कारण ज्ञानार्जन की उत्कण्ठा और तज्जनित राष्ट्रीय गर्व और स्वतन्त्रता-प्राप्ति की भावना और समाज की असली बुनियाद समझने का प्रयास आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो आधुनिक काल को पिछले कालों से अलग करती हैं। 'आधुनिक काल' को इसीलिए कुछ विद्वानों ने 'ज्ञान-प्रसार काल' कहना चाहा है जो बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। ज्ञान-प्रसारण उसका केवल एक पक्ष है। वास्तव में 'आधुनिक' शब्द सामयिक जीवन-पद्धति, विचारधारा और कला एवं साहित्य से सम्बद्ध शब्द है, वह समय-सापेक्ष है। परम्परा के प्रति शंकालु, किन्तु साथ ही उससे जुड़ी रहने पर भी आधुनिकता वर्तमान की गतिशीलता से कदम मिला कर चलती है। अतीत भी अपने समय में 'आधुनिक' रहा होगा। नई परिस्थिति एवं वातावरण में 'अतीत आधुनिक का', 'वर्तमान आधुनिक रूप का' रूप ग्रहण करता रहता है जिससे सोचने-समझने का तरीका बदलता है, तर्क-प्रधान शैली के आधार पर नूतन समस्याओं का समाधान किया जाता है, न कि अतीत के प्रति आस्था और विश्वास का आश्रय ग्रहण कर। 'आधुनिक' शब्द जीवन का यथार्थ, वास्तविक सन्दर्भ व्यक्त करता है। यह शब्द एक विशेष काल-खण्ड का द्योतन करते हुए भी मध्ययुगीन विचार-पद्धति से भिन्न एक नई जीवन-दृष्टि का वाचक है जो, इतिहास-विधाता के निरंकुश विधान के कारण, अँगरेज़ी राज्य के साथ वैज्ञानिकता, यांत्रिकता और नई प्रशासनिक व्यवस्था का द्योतन करता है। वह 'आज' और 'आज की मानसिकता, का पर्यायवाची शब्द है। जिस साहित्य में मनुष्य की केवल तात्कालिक समस्याओं का समाधान रहता है वह 'समकालीन' है, परन्तु जिसमें, नई शक्तियों के सन्दर्भ में, मनुष्य को एक ऐसे व्यापक, चिरन्तन सन्दर्भ में प्रतिष्ठित किया जाता है जो

अलौकिकता और ईश्वरपरक चिन्तन के स्थान पर तर्कप्रधानता, वैज्ञानिकता, नए उत्पन्न हुए मूल्यों, अवधारणाओं और बौद्धिक परिणति पर आधारित रहता है। 'सामयिकता', 'आधुनिकता' का अंग मात्र है। 'सामयिक' होने का तात्पर्य 'आधुनिक' अर्थात् मानव-जीवन का व्यापक सन्दर्भ नहीं। 'सामयिक' होते हुए भी कोई कवि या कलाकार 'आधुनिक' भी हो, यह आवश्यक नहीं। 'आधुनिकता' एक व्यापक, स्वतन्त्र विचार-दर्शन है। 'आधुनिक' में 'पुराना' न हो, यह तो नहीं हो सकता, 'पुराने' का पूर्णतः निषेध नहीं किया जा सकता, तो भी सामयिक परिवेश में उसका नया आयाम विकसित होता है जो नवजीवन के अनुकूल होता है। भारतवर्ष में यह बात और भी अधिक लागू होती है। यहाँ पतझड़ के साथ-साथ नई कोपलें भी निकलती हैं। 'आधुनिक' का देश-काल के साथ जीवन्त एवं सचेतन सम्बन्ध बना रहता है। उसमें रूढ़ियों के प्रति विद्रोह और नवीनता के प्रति आकर्षण रहता है। यह नवीनता बाह्य आचारों से ही सम्बन्धित नहीं रहती, वरन् वह वैचारिक स्तर पर भी मनुष्य का संस्कार करती है। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में यही संस्कार, अँगरेज़ों के माध्यम से पश्चिम के व्यापक प्रभाव द्वारा, भारतीय जन का हुआ और इसीलिए यह काल 'आधुनिक काल' कहा गया।

यह 'आधुनिक काल' नाम ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी से लेकर अब तक साहित्येतिहासों में प्रयुक्त होता चला आ रहा है। किन्तु इस सम्बन्ध में फिर से विचार करने की आवश्यकता है और इतिहास को नकारने से कोई लाभ नहीं। राजनीतिक इतिहास में सन् १८०० ई० से सन् १९४७ ई० तक का काल 'आधुनिक काल' (मॉडर्न पीरियड) 'ब्रिटिश काल' (ब्रिटिश पीरियड) कहा जाता है। विश्वविद्यालयों में भी इतिहास-विभाग 'एन्शेंट', 'मैडीवल' और 'मॉडर्न' कहे जाते हैं। इसी को साहित्येतिहास में 'आधुनिक काल' के नाम से अभिहित किया गया है। लेकिन जैसा कि अभी कहा जा चुका है, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद यह नाम अनुपयुक्त जान पड़ता है। भारतीय इतिहास में 'ब्रिटिश काल' का नाम 'पुनरुत्थान काल' नाम भी दिया जा सकता है, किन्तु 'ब्रिटिश काल' नाम जितना वस्तुनिष्ठ है, उतना 'पुनरुत्थान काल' नाम नहीं। भारतीय जागरण की दृष्टि से तो 'पुनरुत्थान काल' नाम ठीक जान पड़ता है, किन्तु सन् १८००-१९४७ तक के पूरे युग को दृष्टि में रखते हुए, भारतीय पुनरुत्थान इस युग का एक महत्वपूर्ण पक्ष मात्र है। यह ठीक है कि इस काल में भारतवर्ष जहाँ एक ओर परतन्त्र हुआ, वहाँ दूसरी ओर परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त होने के लिए भी वह छटपटाने लगा और नवीन शिक्षा, वैज्ञानिक आविष्कारों, पश्चिम के साथ स्थापित सम्पर्क आदि के फलस्वरूप सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में जो अभूतपूर्व नवीन चेतना दृष्टिगोचर हुई, जिसकी अन्तिम परिणति स्वतंत्रता की प्राप्ति थी, तो भी यह भारतीय 'पुनरुत्थान' सच्चे

अर्थ में 'पुनरुत्थान' था, यह विवादास्पद है। विद्वानों में मतभेद है। इसके अतिरिक्त 'पुनरुत्थान' शब्द का प्रयोग यूरोपीय 'renaissance' के लिए भी होता है। जहाँ तक साहित्य से सम्बन्ध है, वह ईसा की सोलहवीं शताब्दी के इटली के नवजागरण पर आधारित था। ग्रीस, रोम और मध्य युग की क्लैसिकल परम्पराओं के आधार पर ही आधुनिक यूरोपीय साहित्यिक सिद्धान्त प्रतिपादित हुए। पुनरुत्थान के फलस्वरूप प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण उभरा अवश्य था, जिसे कुछ लोगों ने 'प्रतिक्रियावादी' दृष्टिकोण कहा, किन्तु यूरोप की चकाचौंध में वह मन्द पड़ता गया और मन्द पड़ता ही जा रहा है। भारतवर्ष में प्राचीन और मध्ययुगीन परम्पराएँ नकारी गईं और जीवन तथा साहित्य का संस्कार यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान के सन्दर्भ में किया गया। ब्रिटिश राज्य की स्थापना के साथ-साथ नवीन शिक्षा के प्रचलित हो जाने के फलस्वरूप जीवन की नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं और साहित्य की स्पिरिट ही बदल गई। इस काल में अँगरेज़ी तथा अन्य यूरोपीय साहित्यों का हिन्दी साहित्य पर प्रचुर प्रभाव पड़ा। किन्तु समस्या यह है कि यह 'आधुनिक काल' नाम कब तक चलेगा। यह नाम अब बेतुका लगने लगा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक काल में, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द और 'प्रसाद' भी आधुनिक काल में, जैनेन्द्र और मैथिलीशरण गुप्त भी आधुनिक काल में—यहाँ तक कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद के कवियों और लेखकों का उलेल्ख भी आधुनिक काल के अन्तर्गत किया जाता है। यह सब बड़ा विचित्र-सा लगता है। 'आधुनिक काल' की 'आधुनिकता' पर कहीं तो पूर्ण विराम लगना चाहिए। इसलिए १८०० ई० से १९४७ ई० तक का काल ब्रिटिश काल कहा जाना उचित होगा। वैसे तो ब्रिटिश राज्य की स्थापना १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध में अँगरेज़ों की विजय से मानी जाती है, तो भी १८०० ई० से १९४७ ई० तक का काल ही, प्रभाव और आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक शिक्षा के बीज-वपन की दृष्टि से, ब्रिटिश काल कहा जाने योग्य है। ग्रियर्सन ने भी आधुनिक काल को १८०० ई० से ही माना है—१. 'Hindustan under the Company' (१८००-१८५७), और २. India under the Queen' (१८५७-१८८७)—१८८९ में उनका ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। १८०० ई० में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रतीक और मार्क्विस वेलेज़ली के शब्दों में, 'एशिया के अज्ञानान्धकार में प्रकाश-स्तम्भ की भाँति' फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई और इसी समय से आधुनिक खड़ीबोली गद्य का क्रमबद्ध इतिहास प्रारम्भ होता है—और, गद्य हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का प्रतीक बन कर आया। उस पर और हिन्दी कविता पर अँगरेज़ी भाषा और साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। शासन-व्यवस्था, न्याय-पद्धति, भाषा, साहित्य, विज्ञान, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक विचारधारा आदि पर यानी हमारे सम्पूर्ण बौद्धिक दृष्टिकोण पर, सम्पूर्ण जीवन-पद्धति पर, या तो

अँगरेज़ी भाषा और साहित्य का सीधा प्रभाव या उसके माध्यम द्वारा अन्य यूरोपीय साहित्यों और विचारधाराओं का प्रभाव पाया जाता है। भारतेन्दुयुगीन साहित्य पर, द्विवेदीयुगीन साहित्य पर, छायावादी-रहस्यवादी कविता पर, प्रगतिवादी साहित्य पर, आधुनिक एकांकी और कथा-साहित्य पर, नवीन काव्य-शिल्प और प्रवृत्तियों पर शेक्सपियर, मिल्टन, टेनीसन, शेली, बायरन, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, बर्नर्ड शॉ, इब्सन, टॉल्स्टॉय, गोर्की आदि की दुहाई की दृष्टि से यह प्रभाव स्पष्ट और काफ़ी गहरा है। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक विचारधाराओं पर भी पश्चिम का गहरा प्रभाव पाया जाता है। कुछ लोग ब्रिटिश शासन का ऋण स्वीकार करने में नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। किन्तु इतिहास को झुठलाने से कोई लाभ नहीं। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद भी हम ब्रिटिश राज्य द्वारा छोड़ी गई विभिन्न व्यवस्थाओं पर चिप्पियाँ लगाते रहे हैं। अतः इस काल को 'ब्रिटिश काल' के नाम से सम्बोधित करना उपयुक्त होगा। इस नाम की संगति 'मध्य काल' से बैठ जाती है, क्योंकि दोनों नाम ऐतिहासिक हैं। इतिहास में 'आधुनिक काल' और 'ब्रिटिश पीरियड' पर्यायवाची शब्द हैं। इस नाम से यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति के बाद की सारी प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। इस काल की रोमैंटिक प्रवृत्ति (छायावाद) और उसके सौन्दर्य-बोध का विकास इसी काल की सामाजिक, सांस्कृतिक, एवं राष्ट्रीय संघर्ष की अनेक जटिल व परस्पर विरोधी घटनाओं और अँगरेज़ी के रोमैंटिक साहित्य के कुछ तत्त्वों के फलस्वरूप हुआ। १९४७ के बाद का काल 'स्वतन्त्रता काल' है।

१९४७ के बाद के काल को 'आधुनिक' कहना पाठकों के मन में भ्रम पैदा करना होगा। इसका 'स्वतन्त्रता काल' नाम इसलिए सार्थक सिद्ध होगा, क्योंकि यह राजनीतिक दृष्टि से ही स्वतन्त्रता नहीं है, वरन् नए जीवन-क्रम और साहित्य को देखते हुए, सब प्रकार के प्राचीन बन्धनों से मुक्ति की भावना—अनुशासनहीनता की सीमा तक—प्रबल होती हुई दृष्टिगोचर हुई है। लोग 'सर्वतन्त्र स्वतन्त्र' होते हुए दिखाई दे रहे हैं। यह 'स्वतन्त्रता काल' नाम भी हमेशा नहीं रहेगा। हो सकता है, सामयिक साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति उभर आने पर, 'प्रगतिवादी युग' के अनुकरण पर १९४७ ई० के बाद के कुछ समय तक के युग को 'प्रयोगवादी युग', 'नया साहित्य युग', 'अस्वीकृति का युग' या कुछ-कुछ किसी ऐसे ही नाम से पुकारा जाय। मेरी समझ में यदि इस युग को (पिछले यथार्थवाद से भिन्न) यथार्थवादी युग (जीवन की पकड़ और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति) कहा जाय तो अनुचित न होगा।

मेरे उपर्युक्त विचारों से विद्वज्जन सहमत हों या न हों, किन्तु इतना निश्चित है कि हिन्दी साहित्येतिहास का काल-विभाजन पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं है और 'आधुनिक' शब्द का प्रयोग भ्रामक है। उसे वैज्ञानिक आधार प्रदान किया जाना

चाहिए। इस क्षेत्र में हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों की उपलब्धियाँ बहुत महत्व-पूर्ण नहीं रहीं। तो भी उन्होंने भारत के ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि में साहित्य का अध्ययन करने का सफल-असफल प्रयत्न किया है। वास्तव में काल-विभाजन के लिए प्रत्येक युग का गहन अध्ययन होना चाहिए। साहित्य के प्रमुख कालों को लेकर वाद-विवाद चलता रहता है और यह उस समय तक चलता रहेगा जब तक कोई सिद्धान्त निश्चित न कर लिया जाय। अनेक प्रश्न और समस्याएँ सामने आती हैं जिनकी ओर पीछे संकेत किया जा चुका है। हर देश और काल के सम्बन्ध में समस्याएँ हैं, उलझनें हैं। किन्तु इतना भी निश्चित है कि काल लेबिल मात्र नहीं है। ऐतिहासिक ज्ञान के लिए काल की अवधारणा प्रमुख साधन है। तो क्या काल-विभाजन के लिए कोई सामान्य नियम निर्धारित नहीं हो सकता? इस सम्बन्ध में सम्प्रति दो मत उद्धृत किए जा सकते हैं। एक मत तो यह है कि 'स्वयं लेखकों के विचारों और संकल्पनाओं, सचेतन रूप से तैयार किए गए कार्यक्रमों, आत्मविवेचन से उपलब्ध मूल्यों, उनकी आत्मसजगता और आत्मा-लोचन की क्रियाओं को विभाजन का उसी प्रकार आधार बनाया जाना चाहिए जिस प्रकार राजनीतिक इतिहास में बनाया जाता है।' वे सांस्कृतिक इतिहास को आधार मान कर काल-विभाजन को सन्तोषप्रद नहीं मानते। वे यह मान कर चलते हैं कि साहित्य मनुष्य के बौद्धिक विकास का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है। इसलिए उनकी दृष्टि में काल-विभाजन विशुद्ध रूप से साहित्यिक मानकों के आधार पर होना चाहिए। वे साहित्य के रूप में साहित्य का विकास देखना चाहते हैं और उसकी संगति राजनीतिक, सामाजिक, बौद्धिक इतिहास से बैठ जाती है तो उन्हें कोई आपात्ति नहीं। इतिहास से ग्रहण की गई मूल्य की परिवर्तनीय योजना के सन्दर्भ में ही काल-निर्धारण होना चाहिए। दूसरा वह मत है जिसका प्रति-पादन कार्ल मार्क्स और लेनिन ने किया और जिसका अत्यन्त सुन्दर ढंग से स्पष्टीकरण प्रो० टी० ए० जैक्सन ने अपनी पुस्तक 'Dialectics' (१६३६) में किया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य ने वर्ग-विभाजित समाज में, सामन्ती और पूँजीपतियों से घिरे हुए समाज में, इन प्रवृत्तियों को उजागर करते हुए जनवादी परम्पराओं को उद्घाटित करने में कहाँ तक अपनी भूमिका का निर्वाह किया है, यही उसका प्रगतिशील तत्त्व होगा। यह दृष्टिकोण 'सामाजिक विकास' में उतना नहीं जितना 'सामाजिक क्रान्ति' में विश्वास करता है—'The philosophers have only interpreted the world in various ways; the point, however, is to change it,' अथवा 'not criticism but revolution is the motive force of history.' निस्सन्देह यह एक महत्वपूर्ण और विचारणीय दृष्टिकोण है जिससे साहित्येतिहास के काल-विभाजन में सहायता ही नहीं मिलेगी, वरन् मानव-समाज की निरन्तर परिवर्तनशील प्रक्रिया

पर भी प्रकाश पड़ेगा। जो विद्वान् इस मत से सहमत हों उनके लिए यह विश्व-विश्रुत आधार सहायक सिद्ध हो सकता है। क्योंकि '—Every act of practice produces not only objective change, but the subjective alteration of experience' और 'self' और 'non-self' के परस्पर अन्तर्विरोध, फलतः संघर्ष के फलस्वरूप, मार्क्स के अनुसार, समाज में जो नैरन्तर्य बना रहता है, इतिहास लिखने के लिए उसे समझना आवश्यक है। आधुनिक और सामयिक साहित्य का इतिहास लिखने के लिए इस प्रकार का अध्ययन उसके विकास-क्रम की विभिन्न श्रेणियाँ निर्धारित करने का अवसर प्रदान करता है। साहित्य के विवेचन का यह भी एक ढंग है। इससे इस बात पर भी प्रकाश पड़ेगा कि किस काल विशेष में कौन-सी प्रवृत्ति प्रधान रही। आधार हम कोई भी ग्रहण करें, बल मानवतावादी प्रवृत्तियों पर दिया जाना अधिक उचित होगा। इतिहास-दर्शन का यही तकाज़ा है। मार्क्स का मत हम ग्रहण करें अथवा किसी अन्य मनीषी का, सारतत्त्व यह है कि मानव-मस्तिष्क के विविध मानवतावादी क्रिया-कलाप के आधार पर काल का नामकरण करना उपयुक्त है। साहित्य और भाषा पर प्रभाव डालने वाली विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, राजनीतिक, आर्थिक विचारधाराओं का, संक्षेप में, सांस्कृतिक आदान-प्रदान का तटस्थ एवं वैज्ञानिक अध्ययन होना आवश्यक है। साथ ही हिन्दी साहित्य का अध्ययन और काल-विभाजन सम्पूर्ण भारतीय ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विकास के परिप्रेक्ष्य में किया जाय तो और भी अधिक वैज्ञानिक होगा, क्योंकि हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास देश में व्याप्त व्यापक शक्तियों से अलग काट कर नहीं देखा जा सकता। हिन्दी भाषा और साहित्य देश की समग्रता का एक अविभाज्य अंग ही तो है। इस आधार पर विभाजन-रेखाएँ खींचना अधिक लाभप्रद एवं वैज्ञानिक होगा। इतिहास-लेखन की आधुनिकतम प्रणाली को दृष्टिपथ में रखते हुए इससे भी अधिक वैज्ञानिक यह होगा यदि हिन्दी साहित्य का अध्ययन समग्र मानव जाति के विकास-क्रम और संसार के अन्य देशों के जीवन की गतिविधि के परिप्रेक्ष्य में किया जाय। है तो कठिन काम, किन्तु इस दिशा में आगे बढ़ना श्लाघनीय होगा। भारतीय या समग्र मानव जाति की निरन्तर विकासमान सजीव प्रक्रिया में हिन्दी भाषा एवं साहित्य का क्या योगदान रहा है, यह विचार मात्र कितना बौद्धिक उत्तेजनापूर्ण और स्फूर्तिदायक है। इस कार्य में परम्परा से चले आ रहे काल-विभाजन के विभिन्न आधार (जिनका पीछे उल्लेख हो चुका है) सहायक सिद्ध नहीं हो सकते। हमारा देश (या फिर मानव जाति) किन-किन ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दौरों से गुज़रा है, इस प्रकार का काल-विभाजन इस बहुमुखी अध्ययन को सम्भव बनाता है। भारतीय साहित्यिक या विश्व के साहित्यिक विकास-क्रम में हिन्दी साहित्य का स्थान निश्चित करने के लिए ऐसा काल-विभाजन बड़ा रोमैंटिक लगता है। ●

# १०. हिन्दी साहित्येतिहास में काल-विभाजन

भारतीय इतिहास में, फलतः हिन्दी साहित्य के इतिहास में, आधुनिकता की दृष्टि से ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी का महत्वपूर्ण स्थान है, पीछे यह बताया जा चुका है। साहित्येतिहास-प्रणयन के लिए सहायक अंतरंग एवं बाह्य सामग्री का हिन्दी में अभाव तो नहीं रहा, किन्तु साहित्य का इतिहास सर्वप्रथम उन्नीसवीं शताब्दी में ही लिखा गया—आज भले ही वह हमारी इतिहास-सम्बन्धी धारणा के अनुकूल न हो। तासी, सेंगर और ग्रियर्सन की कृतियों का (क्रमशः १८३९, १८७७, १८८९ ई० में) जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुआ था। उनमें से फ्रांसीसी लेखक गार्सां द तासी कृत फ़्रेन्च भाषा में लिखित 'इस्त्वार द ल लित्रेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐन्दूस्तानी' (१८३९-४७ और फिर १८७०-७१) (प्रस्तुत लेखक द्वारा हिन्दी से सम्बन्धित अंश का हिन्दी में 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' नाम से अनुवाद १९५३ ई० में हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उ० प्र०, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित) का अपना विशेष स्थान है, क्योंकि हिन्दी साहित्य की दीर्घकालीन गाथा को सूत्रबद्ध रूप में स्पष्ट करने का यह सर्वप्रथम प्रयास था और जिस वृत्त-संग्रह शैली में सेंगर और ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थों का निर्माण किया उसका जन्म तासी के ग्रन्थ से ही होता है। उन्होंने काल-विभाजन का क्रम ग्रहण न कर कवियों के नाम अकारादि क्रम से रखे हैं। स्वयं उन्हीं के (अनूदित) शब्दों में : "···शुरू में मेरा विचार काल-क्रम ग्रहण करने का था, और, मैं यह बात छिपाना नहीं चाहता कि यह क्रम अधिक अच्छा रहता, या कम-से-कम जो शीर्षक मैंने अपने ग्रन्थ को दिया है उसके अधिक उपयुक्त होता, किन्तु मेरे पास अपूर्ण सूचनाएँ होने के कारण उसे ग्रहण करना कठिन ही था। वास्तव में, जब मैं उसके सम्बन्ध में कहना चाहता हूँ, मौलिक जीवनियाँ हमें यह नहीं बतातीं कि उल्लिखित कवियों ने किस काल में लिखा···प्रतिलिपि करते समय उनमें ऐसे पाठ-सम्बन्धी परिवर्तन हो गए हैं जो उन्हें आधुनिक रूप प्रदान कर देते हैं···जहाँ तक हिन्दुई लेखकों से सम्बन्ध है, उनकी भी अधिकांश रचनाओं की निर्माण-तिथियाँ निश्चित नहीं हैं। यदि मैंने काल-क्रम वाली पद्धति ग्रहण की होती, तो अनेक विभाग स्थापित करने पड़ते : पहले में मैं उन लेखकों को रखता जिनका काल अच्छी तरह ज्ञात है,

दूसरे में उनको जिनका काल सन्देहात्मक है, अन्त में, तीसरे में उन्हें जिनका काल अज्ञात है। यही विभाजन उन रचनाओं के लिए करना पड़ता जिन्हें इस ग्रन्थ के प्रधान अंश में स्थान नहीं मिल सका। अपना कार्य सरल बनाने और पाठक की सहूलियत दोनों ही दृष्टियों से मुझे यह पद्धति छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा' (प्रस्तुत लेखक द्वारा किए गए अनुवाद का पृ० १२-भूमिका भाग)। 'इस इतिहास की पहली जिल्द की भूमिका में मैंने हिन्दुस्तानी साहित्य के काल-क्रम का उल्लेख किया है, और साहित्यिक, इतिहास-लेखक, दार्शनिक के लिए उसका महत्व बताया है।' (वही, पृ० २०)। अपने इतिहास के द्वितीय संस्करण (तीन जिल्द) में भी उन्होंने अकारादि क्रम ग्रहण किया है। यही बात उन्होंने अपने ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण की पहली जिल्द की भूमिका में दुहराई है। (वही, पृ० १०६-१०७)। तो भी उन्होंने दूसरे संस्करण की पहली जिल्द की भूमिका में विभाजन की रूप-रेखा इस प्रकार दी है :

१. नवीं शताब्दी—सबसे पहले हिन्दू कवि हैं।
२. बारहवीं शताब्दी—चंद, पीपा।
३. तेरहवीं शताब्दी—बैजू बावरा।
४. चौदहवीं शताब्दी—खुसरो।
५. पन्द्रहवीं शताब्दी—भक्ति-पद्धति-सम्बन्धी रचनाएँ—कबीर, स्रत गोपालदास, धरमदास, नानक, भागोदास, लालच।
६. सोलहवीं शताब्दी—सुखदेव, नाभाजी, प्रियादास, वल्लभ, दादू, बिहारी, गंगादास।
७. सत्रहवीं शताब्दी—सूरदास, तुलसीदास, केशवदास।
८. अठारहवीं शताब्दी—गंगापति, वीरभान, रामचरण, शिवनारायण।
९. उन्नीसवीं शताब्दी—बख्तावर, दूल्हाराम, छत्रदास।

इन विभिन्न शताब्दियों के अन्तर्गत उल्लिखित उर्दू कवियों का मैंने यहाँ उल्लेख नहीं किया। किन्तु यह कोई काल-विभाजन नहीं है। उन्होंने केवल शताब्दी-क्रम से हिन्दी के कुछ प्रमुख कवियों का ज़िक्र भर कर दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तर्गत उन्होंने लल्लूलाल तक का उल्लेख नहीं किया—यद्यपि ग्रन्थ में उनके सम्बन्ध में काफ़ी विस्तार से लिखा गया है। स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास-ग्रन्थ में काल-विभाजन की पद्धति ग्रहण नहीं की गई। फ़ैलन और करीमुद्दीन की पुस्तक 'A History of Hindi Poets' में भी कवियों का विवरण मात्र है और वह तासी के ग्रन्थ पर आधारित है।

शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' (१८७७ ई०) से हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने में कवियों के स्थान, उत्कर्ष-काल आदि की दृष्टि से सहायता

अवश्य मिलती है, किन्तु अपने में वह इतिहास-ग्रन्थ नहीं है। उसे हम महेशदत्त शुक्ल कृत 'भाषा काव्य-संग्रह' (१८७३) और कहानजी धर्मसिंह कृत 'कवित्त रत्नाकर' (१८७३) का आगे बढ़ा हुआ चरण कह सकते हैं। मूलतः वह काव्य-संग्रह है। मातादीन मिश्र कृत 'कवित्त रत्नाकर' (१८७६) भी कवि-वृत्त एवं संग्रह है।

सर जॉर्ज ग्रियर्सन (जनवरी, १८५१-मार्च, १९४१) कृत 'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान' (१८८९) अँगरेज़ी में लिखित पहला इतिहास-ग्रन्थ है जिसमें हमें काल-विभाजन मिलता है—भले ही हम उस विभाजन से सहमत न हों। किन्तु काल-विभाजन की दृष्टि से, उसका बीजवपन करने वाला ग्रन्थ होने की दृष्टि से, उसका ऐतिहासिक महत्व है। उसे कोरा कवि-नामावली-ग्रन्थ कहना लेखक के साथ अन्याय करना होगा। कुछ बातों की दृष्टि से हमें इस ग्रन्थ का ऋण स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिए। वैसे भी सर जॉर्ज ग्रियर्सन का नाम आधुनिक भारतीय साहित्य और भाषाओं के इतिहास में अमर रहेगा। 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया' उनकी कीर्ति का जाज्वल्यमान स्तम्भ है। क्या हम भारतवासी कोई दूसरा लिंग्विस्टिक सर्वे दे सके हैं ? इस समय उनके इतिहास-ग्रन्थ में दिया गया काल-विभाजन विचारणीय है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में : "The work is divided into chapters, each roughly representing a period. The sixteenth and seventeenth centuries, the Augustan age of Indian vernacular poetry, occupy six chapters, not strictly divided according to periods of time, but according to groups of poets, commencing with the romantic poetry of Malik Muḥammad, and including amongst others the Krishna cult of Braj, the works of Tul'si Das (to whom a special chapter has been allotted), and the technical school of poets founded by Kēsab Dās." (भूमिका, पृ० XV)

उनके अध्यायों का क्रम और काल-विभाजन इस प्रकार है :

अध्याय १. The Bardic Period (७००-१३०० ए० डी०) (वीरगाथा काल ७००-१३०० ई०)

अध्याय २. The Religious Revival of the Fifteenth Century. (१५वीं शताब्दी का धार्मिक जागरण)

अध्याय ३. The Romantic Poetry of Malik Muḥammad (१५४० ए० डी०) (मलिक मुहम्मद का प्रेमकाव्य, १५४० ई०)

अध्याय ४. The Krishna Cult of Braj (१५००-१६०० ए० डी०) (ब्रज का कृष्ण सम्प्रदाय, १५००-१६०० ई०)

अध्याय ५. The Mughal Court (मुगल दरबार)

अध्याय ६. Tul'si Das (तुलसीदास)

अध्याय ७. The Ars Poetica (१५८०-१६९२ ए० डी०) (रीति काव्य, १५८०-१६९२ ई०)

अध्याय ८. Other Successors of Tul'si Das (१६००-१७०० ए०डी०) Part I Religious poets (तुलसीदास के परवर्ती कवि, १६००-१७०० ई०, भाग-१, धार्मिक कवि), Part II Other Poets (भाग-२, अन्य कवि)

अध्याय ९. The Eighteenth Century (अठारहवीं शताब्दी)

अध्याय १०. Hindustan under the Company (१८००-१८५७ ए० डी०) (कम्पनीकालीन हिन्दुस्तान, १८००-१८५७ ई०)

अध्याय ११. Hindustan under the Queen (१८५७-१८८७ ए० डी०) (सम्राज्ञीकालीन हिन्दुस्तान, १८५७-१८८७ ई०)

हिन्दी के प्रचलित काल-विभाजन को ध्यान में रखते हुए ग्रियर्सन द्वारा उपर्युक्त अध्यायों के रूप में दिया गया काल-विभाजन इस प्रकार रखा जा सकता है :

वीरगाथा काल—अध्याय १

मध्य काल (भक्ति काल और रीति काल)—अध्याय २ से ९ तक

आधुनिक काल—अध्याय १०, ११

वास्तव में ग्रियर्सन ने शताब्दी-क्रम को अपने विभाजन और साहित्यिक प्रगति का मुख्य आधार माना है और उससे न तो विभिन्न युगों की मुख्य प्रवृत्ति स्पष्ट हो पाती है और न उस युग का समवेत रूप ही उभर पाता है। उसमें बिखराव है। साथ ही उनके सामने तासी और सेंगर उदाहरण-स्वरूप थे। इन दोनों के ग्रन्थों से न केवल उन्होंने सामग्री ली है, वरन् उनकी शैली भी ग्रहण की है। अनेक रचनाएँ तो नोटिस मात्र हैं। अपनी सीमाओं को देखते हुए उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है : "...I do not venture to call this book a formal History of Literature." तो भी उन्होंने प्रमुख कवियों और उनकी रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य की विविध धाराएँ एवं प्रवृत्तियाँ पहचानने का प्रयास किया है। यह पहचान ही काल-विभाजन का मूल है। ऐसा करते समय उन्होंने भारतीय इतिहास का उतार-चढ़ाव भी ध्यान में रखा है। अतएव ग्रियर्सन का विभाजन बहुत वैज्ञानिक तो नहीं है, किन्तु वह आगे लिखे जाने वाले इतिहास-ग्रन्थों के लिए दिशा-निर्देश करता है, उनका मूलाधार है।

१९०७ और १९१४ ई० में प्रकाशित 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' (दो भाग) इतिहास नहीं है। उसमें उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के अस्सी लेखकों के जीवन-चरित्र और उनकी कृतियों का उल्लेख है। इसी प्रकार रामनरेश त्रिपाठी

द्वारा संपादित 'कविता-कौमुदी' (चार भाग, १६२२-१६२४ ई०) में भारतेन्दु से पहले तक के ८६ कवियों का संक्षिप्त परिचय तथा उनकी चुनी हुई कविताओं का संग्रह है। आलोचना उसमें नहीं है। उसके दूसरे भाग में ४६ आधुनिक कवियों और लेखकों का विवरण है। 'कविता कौमुदी' को 'शिवसिंह सरोज' का विकसित रूप कहा जाय तो अनुचित न होगा। इसे भी इतिहास-ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता।

ग्रियर्सन के इतिहास के बाद मिश्रबन्धु (गणेशबिहारी मिश्र, रावराजा राय बहादुर श्यामबिहारी मिश्र, राय बहादुर शुकदेवबिहारी मिश्र) कृत 'मिश्रबन्धु विनोद' (हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा कवि-कीर्तन), चार भाग (पहले तीन भाग १६१३ ई०, चतुर्थ भाग १६३४ ई०) को इतिहास के इतिवृत्तात्मक लेखन का प्रथम श्रेय देना तो गलत होगा, किन्तु वह **हिन्दी में लिखित** ऐसा सर्वप्रथम महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें काल-क्रम दिया गया है। साहित्येतिहास से सम्बन्धित 'हिन्दी नवरत्न' (१६१० ई० या १६६७ वि०) में वे अपना काल-विभाजन-सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रस्तुत कर चुके थे। इस सम्बन्ध में 'विनोद' में मिश्रबन्धु का कथन है: "कवियों के पूर्वापर क्रम रखने में हमने जन्म-संवत् का विचार न करके **काव्यारम्भ काल के अनुसार क्रम रखा है**। साहित्य-सेवा की दृष्टि से किसी का जन्म उसी समय से माना जा सकता है, जबसे वह रचना आरम्भ करे। इसी कारण कई छोटी अवस्था वाले लेखकों के नाम बड़ी अवस्था वालों से पूर्व आ गए हैं। **काल-नायकों** के कथनों में इस नियम से प्रतिकूलता है। काल-नायक केवल काव्योत्कर्ष के विचार से नहीं रखे गए हैं, वरन् इसके साथ उनके वर्णित विषय, उनका तात्कालिक प्रभाव और उनके समयों के विचार भी मिल गए हैं। सूदन-काल संवत् १८११ से १८३० तक चलता है। इसके नायक जोधा भी हो सकते थे, परन्तु उनका कविता-काल १८३० से प्रारम्भ होता है, सो सबसे पीछे होने के कारण वह **समय-नायक** नहीं बनाए गए। फिर भी उनका वर्णन इसी समय हुआ। कई स्थानों पर ऐसा हुआ है कि कवियों ने जिस संवत् में उनका वर्णन हुआ है, उससे बहुत पीछे तक रचना की। जैसे सुन्दर दादूपंथी का कथन संवत् १६७८ में हुआ है, परन्तु उनका रचना-काल १७४६ तक चला गया है। ऐसे स्थानों पर इतिहास-ग्रन्थ में, प्रकट में, कुछ भ्रम अवश्य देख पड़ेगा, किन्तु किसी कवि का वर्णन तो एक ही स्थान पर हो सकता है, और वह स्थान उसके रचनारम्भ का ही होना चाहिए, नहीं तो उससे पीछे के कविगण उससे पहले के समझ पड़ेंगे।" (प्रथम भाग की भूमिका, पृ० ३-४)। मिश्रबन्धु के इस कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने **शताब्दिक्रमानुसार** (१) विशिष्ट काव्यारम्भ काल के नामों के सम्बन्ध में अपने सामान्य विचार व्यक्त कर उसे (२) उस काल के प्रमुख कवियों के, जिन्हें उन्होंने 'काल-नायक' या 'समय-नायक' कहा है, आधार पर काल-विभाजन किया है।

इस सम्बन्ध में विभिन्न अध्यायों में विभाजित उनके दिए हुए कुछ शीर्षकों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी :

आदि प्रकरण

प्रारम्भिक एवं पूर्व माध्यमिक हिन्दी
हिन्दी की उत्पत्ति और काव्य-लक्षण
वैदिक समय से सं० ७०० तक
**पूर्व प्रारम्भिक हिन्दी**
(सं० ७०० से १३४७ तक)
(१) चंद पूर्व की हिन्दी
(सं० ७००-१२००)
**पूर्व प्रारम्भिक हिन्दी**
(२) रासो काल (१२०१-१३४७)
**उत्तर प्रारम्भिक हिन्दी**
(सं० १३४८-१४४४)
**पूर्व माध्यमिक हिन्दी**
(सं० १४४५-१५६०)

प्रौढ़ माध्यमिक प्रकरण

**प्रौढ़ माध्यमिक हिन्दी**
(सं० १५६१-१६८०)
अष्टछाप (सं० १५६१-१६३०)
**सौर काल**
(सं० १५६१ से १६३० तक)
**गोस्वामी तुलसीदास तथा तुलसी-काल की हिन्दी**
(सं० १६३१-१६८०)
पूर्व तुलसी-काल
(सं० १६३१-१६४५)
माध्यमिक तुलसी-काल
(सं० १६४६-१६७०)
अन्तिम तुलसी-काल (सं० १६७१-१६८०)

पूर्वालंकृत प्रकरण (सं० १६८१-१७९०)

पूर्वालंकृत हिन्दी

महाकवि सेनापति
सेनापति-काल (सं० १६८१ से १७०६)
बिहारी-काल (सं० १७०७ से १७२० तक)
भूषण-काल (सं० १७२१ से १७५० तक)
आदिम देव-काल (सं० १७५१ से १७७१ तक)
माध्यमिक देव-काल (सं० १७७१ से १७९० तक)
घन आनन्द

उत्तरालंकृत प्रकरण (सं० १७९१ से १८८९ तक)

**उत्तरालंकृत हिन्दी**
दास-काल (सं० १७९१ से १८१० तक)
सूदन-काल (सं० १८११ से १८३० तक)
रामचन्द्र-काल (सं० १८३१ से १८५५)
बेनी प्रवीन-काल (सं० १८५६-१८७५)
पद्‌माकर-काल (सं० १८७६-१८८९)

अज्ञात-कालिक प्रकरण

अज्ञात काल[1]

परिवर्तन प्रकरण (१८९०-१९२५)

**परिवर्तनकालिक हिन्दी**
द्विजदेव-काल (१८९०-१९१५)
दयानन्द-काल (१९१६-१९२५)

आदि आदि।

मिश्रबन्धु का यह काल-विभाजन यद्यपि कुछ अस्पष्ट है, तो भी वह बहुत-कुछ वैसा ही है जैसा आजकल भी 'पूर्व-प्रसाद युग', 'उत्तर-प्रसाद युग', 'पूर्व-प्रेमचन्द काल', 'उत्तर-प्रेमचन्द काल', 'शुक्लोत्तर युग' आदि विभाजन-क्रम प्रचलित हैं। मिश्रबन्धु ने केवल काव्योत्कर्ष को ही विभाजन का प्रधान आधार माना है। ग्रियर्सन ने जीवन की, प्रमुखतः ऐतिहासिक और धार्मिक एवं गौण रूप से सामाजिक परिस्थितियों की, ओर भी अपने ढंग से ध्यान दिया है जिसका अभाव 'मिश्रबन्धु विनोद' में मिलता है, किन्तु उनके परवर्ती इतिहासकारों ने फिर इस ओर ध्यान दिया।

---

१. जिन कवियों का काल-निरूपण नहीं हो सका।

'मिश्रबन्धु विनोद' के बाद १९१८ ई० में एड्विन ग्रीव्स कृत 'ए स्केच ऑव हिन्दी लिट्रेचर' प्रकाशित हुआ जिसमें लेखक ने पिछली सभी सामग्री से सहायता लेकर साहित्यिक गतिविधियों का परिचय मात्र दिया है। पुस्तक ११२ पृष्ठों की छोटी-सी रचना है। लेखक ने हिन्दी साहित्य का इतिहास पाँच भागों में विभक्त किया है जो एक प्रकार से ग्रियर्सन के विभाजन का प्रतिबिम्ब है। धार्मिक काल को उसने दो विभागों में विभक्त किया है। कुल मिला कर पुस्तक में कोई विशेष नवीनता नहीं है। तत्पश्चात् एफ़० ई० के (Keay) कृत 'हिन्दी लिट्रेचर' (१९२० ई०) विचारणीय है। हिन्दी साहित्य के इस छोटे-से इतिहास में, विभिन्न अध्यायों के शीर्षकों को देखते हुए, काल-विभाजन बहुत-कुछ ग्रियर्सन जैसा है। प्रथम अध्याय में लेखक ने भारतीय आर्य भाषाओं में हिन्दी का स्थान, शब्द-भण्डार और छन्द-शास्त्र पर अति संक्षेप में विचार कर, द्वितीय अध्याय में हिन्दी साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालते हुए, ग्रियर्सन की भाँति, ऐतिहासिक और धार्मिक परिस्थितियों की ओर संकेत मात्र दिए हैं। पहला अध्याय 'मिश्रबन्धु विनोद' का प्रभाव प्रदर्शित करता है। दूसरे अध्याय के अन्त में लेखक ने अपने इतिहास में ग्रहण किए गए काल-विभाजन का आधार इस प्रकार बताया है : "The principle adopted in this book in dividing up the literature into periods is as follows : First of all the infancy of Hindi literature, connected with the bardic chronicles, is described ; and after that a new period is dated from each point where an important new influence begins to modify the literature. These periods begin (1) about 1400, when the religious influence of the Vaishnava movements began to affect Hindi literature; (2) about 1550, when a new artistic influence makes itself felt ; and (3) about 1800, when the literature began to be affected by the modern influence which came from contact with the West. In each period the literature that shows the new spirit in its fullness will first of all be described and then the other forms in turn, and something will be said as to how far each group or each writer is influenced by the new ideas." इस आधार पर, इस इतिहास में काल-विभाजन, विभिन्न अध्यायों में, इस प्रकार है :

1. Early Bardic Chronicles (1150-1400)
2. Early Bhakti poets (1400-1550)
3. The Moghul Court and the Artistic Influence in Hindi Literature (1550-1600)
4. Tulsī Dās and the Rāma Cult (1550-1800)
5. The Successors of Kabir (1550-1800)
6. The Krishna Cult (1550-1800)

7. The Bardic and other Literature (1550-1800)
8. The Modern Period (from 1800. . . .)

आधुनिक काल में लेखक ने भारतेन्दु युग तक ही विचार किया है। इतिहास के अन्तिम अध्याय में उसने अपने समय तक की भाषा एवं साहित्य-सम्बन्धी स्थिति पर विचार किया है। सौ पृष्ठों के इस इतिहास में इतिहास की रूपरेखा मात्र से अधिक की आशा नहीं की जा सकती थी। ग्रियर्सन द्वारा ग्रहण की गईं तिथियों और काल-विभाजन के शीर्षकों की तुलना करने पर दोनों में लगभग समानता है। दोनों ने हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ वीरगाथात्मक रचनाओं से और आधुनिक काल का सूत्रपात १८०० ई० से माना है।

मिश्रबन्धु के पश्चात् रामचन्द्र शुक्ल का काल-विभाजन-सम्बन्धी दृष्टिकोण विचारणीय है। उनके दृष्टिकोण के बीज हमें ग्रियर्सन के इतिहास में मिलते हैं। 'वीरगाथा काल' को ही ग्रियर्सन ने 'Bardic Period' कहा जिसे अवधवासी ला० सीताराम ने भी ग्रहण किया। वीरगाथा काल के अन्तर्गत रामचन्द्र शुक्ल ने जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया है लगभग उन्हीं ग्रन्थों का उल्लेख ग्रियर्सन ने किया है। अन्तर केवल इतना है कि हिन्दी के विद्वान् होने के कारण उन्होंने ग्रियर्सन की अपेक्षा काल-विभाजन-सम्बन्धी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण अधिक सुचारु रूप में किया। उन्होंने विभिन्न कालों की जीवन-परिस्थितियों के फलस्वरूप सर्जनात्मक प्रवृत्तियों पर बल दिया, किन्तु मूलतः वह है वही बात जो ग्रियर्सन के इतिहास में मिलती है। ग्रियर्सन ने भी विभिन्न कालों में काम कर रहीं शक्तियों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त जिन आधारों पर उन्होंने मिश्रबन्धु के 'आदि काल' नाम का खण्डन किया, आगे चल कर लगभग उन्हीं आधारों पर 'वीरगाथा काल' नाम का खण्डन कर दिया गया। यह कहा गया कि उन्होंने जिन्हें वीरकाव्य माना है उनमें से अधिकांश वीरगाथात्मक नहीं हैं, उनमें श्रृंगार भी है। शुक्ल जी द्वारा प्रस्तावित कुछ रचनाएँ पीछे की हैं (जैसे 'खुँमाण रासो', 'विजयपाल रासो', 'बीसलदेव रासो'), कुछ नोटिस मात्र हैं (जैसे, 'हम्मीर रासो', 'जयमयंक-जस-चन्द्रिका', 'परमाल रासो') और कुछ के प्रामाणिक रूप का पता नहीं (जैसे, 'पृथ्वीराज रासो')। 'प्राकृत पैंगलम्', नाथ-सिद्ध कवियों की रचनाओं, 'सन्देश रासक', 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण', 'वर्णरत्नाकर', 'ढोला मारू रा दूहा' आदि रचनाओं के आधार पर आदि काल की अवधि अधिक व्यापक बताई गई।

अपने इतिहास के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में शुक्ल जी का कहना है: 'शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल-विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन

कठिन दिखाई पड़ता था।' अतः वे संचित ग्रन्थ-राशि की ऐसी निर्दिष्ट सरणियों की उद्भावना करना चाहते थे जिनके अनुसार सुगमता से इस सामग्री का वर्गीकरण हो जाता। यही बात उन्होंने अन्यत्र इस प्रकार कही है: 'जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्तियों का स्थायी प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक उन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ-साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत-कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है, अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ में आवश्यक होता है। इस दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हम हिन्दी साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर सकते हैं:

(क) आदि काल (वीरगाथा काल, सं० १०५०-१३७५)
(ख) पूर्व मध्य काल (भक्ति काल, सं० १३७५-१७००)
(ग) उत्तर मध्य काल (रीति काल, सं० १७००-१९००)
(घ) आधुनिक काल (गद्य काल, सं० १९००-१९७५)'

अतः यह स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में काल-विभाजन और नामकरण के दो प्रधान आधार ये हैं: (१) बाह्य परिस्थितियों के कारण बदली हुई चित्तवृत्ति के फलस्वरूप एक विशेष काल में विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता के अतिरिक्त अन्य प्रकार की रचनाएँ भी हो सकती हैं। किन्तु प्रचुर मात्रा में हुई रचनाएँ ही ध्यान में रखी जाएँगी। (२) एक विशेष काल में एक विशेष ढंग के ग्रन्थों की प्रसिद्धि जिनसे उस काल की लोक-प्रवृत्ति प्रतिध्वनित होती हो।

सन् १९४१ में रामचन्द्र शुक्ल का देहान्त हो गया। उसके बाद भी उनके इतिहास के परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण प्रकाशित होते रहे हैं। उनकी मृत्यु के बाद के संस्करण में किए गए संशोधनों और परिवर्द्धनों से शुक्ल जी के दृष्टिकोण के साथ कितना न्याय हुआ है, यह गम्भीरतापूर्वक विचार करने का विषय है। संवत् १९९७ के संशोधित एवं प्रवर्द्धित संस्करण के 'दो बातें' शीर्षक के अन्तर्गत उनका यह कथन ध्यान देने योग्य है: "आदि काल के भीतर वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परम्परा का कुछ विस्तार के साथ वर्णन यह दिखाने के लिए करना पड़ा कि कबीर द्वारा प्रवर्तित निर्गुण सन्त मत के प्रचार के लिए किस प्रकार उन्होंने पहले से रास्ता तैयार कर दिया था। दूसरा

उद्देश्य यह स्पष्ट करने का भी था कि सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य-कोटि में नहीं आतीं और योगधारा काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं मानी जा सकती।" उन्हें अपभ्रंश और देशभाषा (बोलचाल) में लिखित पुस्तकों में अपभ्रंश में या तो साहित्य-सौन्दर्य-विहीन और जैन धर्म-तत्त्व-निरूपण-सम्बन्धी रचनाएँ मिलीं अथवा साहित्य-सौन्दर्य से पूर्ण 'विजयपाल रासो', 'हम्मीर रासो', 'कीर्त्तिलता', और 'कीर्त्तिपताका' नामक चार ग्रन्थ मिले। संख्या कम होने के कारण उस काल की प्रवृत्ति इन चार ग्रन्थों से निर्धारित नहीं हो सकती थी। इन चार तथा देशभाषा काव्य की 'खुमान रासो', 'बीसलदेव रासो','पृथ्वीराज रासो', 'जयचन्द-प्रकाश', 'जयमयंक-जस-चन्द्रिका', 'परमाल रासो' (आल्हा का मूल रूप), 'खुसरो की पहेलियाँ' आदि और 'विद्यापति-पदावली' शीर्षक पुस्तकों के आधार पर उन्होंने 'वीरगाथा काल' नाम देना उचित समझा। इनमें अधिकांश ग्रन्थ वीरगाथात्मक हैं। अपने इसी दृष्टिकोण के अनुसार उन्होंने मिश्रबन्धु द्वारा दिए गए 'आदि काल' नाम की आलोचना की क्योंकि, उनके मतानुसार, एक तो मिश्रबन्धु द्वारा उल्लिखित ग्रन्थ या तो नोटिस मात्र हैं, या जैन धर्म के तत्त्व-निरूपण पर हैं जो साहित्य-कोटि में नहीं आते, या वर्णनात्मक हैं। यदि ये ग्रन्थ साहित्यिक भी होते तो भी रामचन्द्र शुक्ल के नामकरण में कोई अन्तर न पड़ता। संवत् १९९९ के संस्करण में प्रकरण १ का शीर्षक 'आदि काल' दिया गया है जिसकी अवधि संवत् १०५० से संवत् १३७५ तक मानी गई है। इस संस्करण के प्रकरण १, २ और ३ के अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि 'आदि काल' नाम ग्रहण करते हुए भी उसके अन्तर्गत रचित साहित्य की उन्होंने दो शाखाएँ कर दीं—(१) अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी (कवियों की, बोलचाल की नहीं) जिसके अन्तर्गत सिद्धों-नाथों आदि की रचनाओं पर विचार किया गया है (प्रकरण २, अपभ्रंश काल) और (२) देशभाषा का सन्दिग्ध साहित्य (जैसे 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो' आदि, प्रकरण ३)। प्रकरण ३ की रचनाओं को 'वीरगाथा' शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया है, यद्यपि प्रकरण १ में स्पष्ट कर दिया गया है कि जो प्रबन्ध-परम्परा 'रासो' के नाम से पाई जाती है उसे लक्ष्य करके इस काल को 'वीरगाथा काल' कहा है।

शुक्ल जी के इतिहास के विभिन्न संस्करणों को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि इन संस्करणों में 'आदि काल' शीर्षक का प्रयोग हुआ है, तो भी इस शीर्षक के अन्तर्गत रखे गए साहित्य को विशेष महत्व प्रदान नहीं किया गया। उन्हें 'वीरगाथा काल' नाम ही अधिक मान्य था।

जहाँ तक 'पूर्व मध्य काल' (भक्ति काल), 'उत्तर मध्य काल' (रीति काल) और 'आधुनिक काल' नामों से सम्बन्ध है ये नाम सर्वस्वीकृत हो चुके हैं। इनके बारे में कोई विवाद नहीं है। हाँ, परम्परा से चला आ रहा 'आधुनिक काल' नाम

कब तक चलता रहेगा, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद यह विषय गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है। इस सम्बन्ध में मैं अपना मत पीछे व्यक्त कर चुका हूँ।

रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास के बाद राय बहादुर बाबू (बाद को डॉ०) श्यामसुन्दरदास कृत साहित्येतिहास-ग्रन्थ 'हिन्दी भाषा और साहित्य' या बाद को केवल 'हिन्दी साहित्य' १९३० में प्रकाशित हुआ। प्रारम्भ में साहित्य और ललित कलाओं के सम्बन्ध में विचार कर उन्होंने कुछ अन्तर के साथ वही काल-विभाजन स्वीकार किया है जो ग्रियर्सन के समय से, थोड़े-बहुत हेरफेर के साथ, चला आ रहा था अर्थात् प्रारम्भ में 'वीरगाथा काल' और 'योगधारा'। इस सम्बन्ध में उनका कथन है: "वीर काव्य के साथ-ही-साथ हमारे साहित्य के इतिहास में एक धारा और बहती रही जिसका पाट आध्यात्मिकता के जल से भरा था। विदेशियों के भीषण आक्रमणों से भारतीय योगियों की शान्ति भंग नहीं हुई। उनके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि बिना किसी विघ्न-बाधा के चलते रहे।" योगियों में उन्होंने प्रमुखतः नाथ-पंथी योगियों पर ही विचार किया है। रामचन्द्र शुक्ल ने नाथ-सिद्ध कवियों पर पहले विचार कर फिर वीरगाथा काव्य पर विचार किया था। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने वीरगाथा काव्य पर विचार करने के बाद नाथ-साहित्य पर विचार किया है। रामचन्द्र शुक्ल ने तो फ़तवा दे दिया था कि सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य-कोटि में नहीं आतीं और योगधारा काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं मानी जा सकती। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने ऐसा कोई फ़तवा नहीं दिया। 'योगधारा' के बाद उन्होंने वही 'भक्ति काल' (ज्ञानाश्रयी, प्रेममार्गी, रामभक्ति, कृष्णभक्ति शाखाएँ), 'रीति काल' और 'आधुनिक काल' नाम ग्रहण किए हैं। किन्तु रामचन्द्र शुक्ल के 'वीरगाथा काल' नाम का जिस मूल आधार पर खण्डन किया गया उसका प्रथम संकेत डॉ० श्यामसुन्दरदास ने ही दिया था: "हम हिन्दी साहित्य का काल-विभाग संक्षेप में इस प्रकार कर सकते हैं:

आदि युग (वीरगाथा का युग—संवत् १०५० से १४०० तक)
पूर्व मध्य युग (भक्ति का युग—संवत् १४०० से १७०० तक)
उत्तर मध्य युग (रीति-ग्रन्थों का युग—संवत् १७०० से १९०० तक)
आधुनिक युग (नवीन विकास का युग—संवत् १९०० से अब तक)

उपर्युक्त काल-विभाग प्रत्येक काल की मुख्य विशेषताओं को ही ध्यान में रख कर किया गया है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उक्त विशेषताओं का निर्धारण अभी तक की ऐतिहासिक और साहित्यिक खोजों पर ही अवलम्बित है। उदाहरणार्थ, इतिहास ही बतलाता है कि हिन्दी का आदि युग देश में युद्ध और अशान्ति का युग था और साहित्यिक खोज हमारे सामने वीरगाथाओं के रूप में उस युग का साहित्यिक विवरण प्रस्तुत करती है। परन्तु साहित्यिक

खोज का कार्य अभी तक बहुत-कुछ अधूरे और एकदेशीय रूप में हुआ है और सभी प्रान्तों में पूरी और व्यवस्थित खोज होने पर सम्भव है हमारे निर्णयों पर नया प्रकाश पड़े। इधर ज्यों-ज्यों खोजें होती जा रही हैं, यह विश्वास दृढ़ होता जा रहा है कि अपभ्रंश के बाद किंचिद् देश-भेद से हिन्दी प्रायः सम्पूर्ण राष्ट्र की साहित्य और व्यवहार की भाषा ही रही थी और उसमें केवल राजाश्रित वीर-गाथाकार कवि या भाट ही रचना नहीं करते थे, जैन मुनियों और नाथपंथी साधुओं द्वारा भी उसकी पर्याप्त अभिवृद्धि हो रही थी।...” रामचन्द्र शुक्ल के मत का इस आधार पर भी खण्डन किया गया कि जिन रचनाओं को वे केवल धार्मिक रचनाएँ मानते थे उनमें भी धर्म-भावना प्रेरक शक्ति के रूप में थी और मन को उद्वेलित करने वाली इन शक्तियों की अभिव्यक्ति रसात्मक धरातल पर हुई। और, आगे चल कर यही हुआ। जैन मुनियों और नाथ-सिद्ध कवियों की रचनाएँ ज्यों-ज्यों मिलती गईं, 'वीरगाथा काल' नाम अनुपयुक्त जान पड़ा। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि एक विशेष युग में प्रमुख प्रवृत्ति के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं और कुछ प्रतिभाशाली और विचक्षण कवि ऐसे भी होते हैं जो लकीर के फ़कीर नहीं बनते और साहित्य पर अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ जाते हैं। भूषण और लाल ने विस्तृत रूप में श्रृंगार-परम्परा के युग में स्वतन्त्र पथ का अवलम्बन ग्रहण किया था। अथवा, भक्तिकाल में भी वीर-गर्जना बन्द नहीं हुई थी। मोटे तौर पर डॉ० श्यामसुन्दरदास ने काल-विभाजन का वही आधार स्वीकार किया जो रामचन्द्र शुक्ल ने ग्रहण किया था, किन्तु उन्होंने उसमें परिवर्तन की गुंजायश भी स्पष्टतः स्वीकार की।

उपर्युक्त साहित्येतिहासों के बाद हिन्दी में अनेक इतिहासों की रचना हुई और होती रहती है जिनमें से प्रमुख हैः—नाथूराम प्रेमी कृत 'हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास' (१९१७ ई०), सूर्यकान्त शास्त्री कृत 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (१९३०), अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' : 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' (१९३० या १९३१ ?), डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९३० या १९३१ ?), कृष्णशंकर शुक्ल : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९३४), डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४०), 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' (१९५२), 'हिन्दी साहित्य' (१९५२), ब्रजरत्नदास : हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९३३), 'हिन्दी-नाट्य-साहित्य' (१९३८), और 'खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९४१), मोतीलाल मेनारिया : 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा' (१९३९), लक्ष्मी-सागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१८५० से १९००) (१९४१, १९४६), 'फ़ोर्ट विलियम कॉलेज' (१९४७), 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९५२, १९८१ में चौदहवाँ संस्करण), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका'

(१७५७ से १८५७) (१९५२), 'उन्नीसवीं शताब्दी' (१९६३), 'बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए सन्दर्भ' (१९६६), 'द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९७३), डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त : 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', श्रीकृष्ण लाल : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (१९००-१९२५) (१९४२), भोलानाथ : 'हिन्दी साहित्य' (१९२६-१९४७) (१९५४), डॉ० सोमनाथ गुप्त : 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' (१९४८), डॉ० दयानन्द श्रीवास्तव : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९६४), डॉ० मोहनलाल जिज्ञासु : 'चारण साहित्य का इतिहास' (१९६८), डॉ० जयभगवान गोयल : 'गुरुमुखी लिपि में हिन्दी साहित्य' (१९७०), डॉ० श्रीराम शर्मा : 'दक्खिनी हिन्दी का साहित्य' (१९७२), आदि-आदि। इन प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त पाठ्य-पुस्तकों के रूप में अनेक छोटे-बड़े इतिहास लिखे गए हैं और लिखे जा रहे हैं। ये इतिहास या तो पूरे हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करते हैं, या किसी विशेष काव्य या गद्य विधा का (जैसे ब्रजरत्नदास और डॉ० सोमनाथ गुप्त कृत उपर्युक्त रचनाएँ) या किसी काल विशेष का (जैसे प्रस्तुत लेखक कृत उपर्युक्त रचनाएँ), या किसी क्षेत्र विशेष का (जैसे मेनारिया की उपर्युक्त रचना)। वास्तव में हिन्दी साहित्य के कई इतिहास प्रकाशित हो जाने के बाद आवश्यकता इसी बात की थी कि विशेष विधा, काल और क्षेत्र आदि को लेकर विस्तृत शोधपरक विचार किया जाता और सुव्यवस्थित रूप में पाठकों के सामने आता। विद्वानों की छानबीन और अध्यवसाय के फलस्वरूप हिन्दी में इस कार्य के सम्पन्न होने में देर न लगी। इन ग्रन्थों में कवियों और लेखकों की कृतियों के स्वरूप-लक्षण स्थिर किए गए हैं और उनकी विशेषताओं और प्रवृत्तियों का उद्घाटन किया गया है।

किन्तु जहाँ तक काल-विभाजन से सम्बन्ध है यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि ग्रियर्सन और मिश्रबन्धु ने जो काल-विभाजन का बीज बोया था, उसी का, कुछ शाब्दिक हेरफेर के साथ, सभी इतिहास-लेखकों ने अनुसरण किया और अब भी किया जा रहा है। १९२९ और १९३०-३१ के आसपास लिखे गए इतिहासों में 'वीरगाथा काल', 'मध्य काल' (भक्ति काल, रीति काल) और 'आधुनिक काल' ये तीन नाम मिलते हैं। विभिन्न लेखकों ने अपने-अपने ढंग से अपने समय में उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया है। कालान्तर में 'वीरगाथा काल' नाम के स्थान पर 'आदि काल' नाम ग्रहण कर लिया गया। इस नाम के ग्रहण किए जाने के कारणों और इस 'आदि' शब्द के मूल स्रोत के सम्बन्ध में पीछे संकेत किया जा चुका है। पीछे यह भी बताया जा चुका है कि 'आदि काल' को कुछ विद्वानों ने 'संधि काल' (पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध), 'चारण काल' या 'सिद्ध-सामन्त काल' भी कहा है। किन्तु एक तो इन नामों में और 'वीरगाथा काल' नाम में कोई विशेष अन्तर नहीं, दूसरे ये नाम प्रचलित न हो सके। पारम्पर्य का अनुसरण करते हुए काल-

विभाजन और नामकरण के सम्बन्ध में प्रायः सभी लेखकों में अपनी कुछ-न-कुछ विशिष्टता रखने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य' में 'काल' शब्द का कम प्रयोग किया और 'भक्ति साहित्य का आविर्भाव' के अन्तर्गत 'वास्तविक हिन्दी साहित्य का आरम्भ' और 'आधुनिक काल' शीर्षक के अन्तर्गत 'परिमार्जित भाषा और साहित्य का आरम्भ' आदि शीर्षक दिए हैं। एक और उदाहरण डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के इतिहास-ग्रन्थ का है जिसमें उन्होंने लोकाश्रित, समाजाश्रित और धर्माश्रित आदि पद्धतियाँ ग्रहण कर विभिन्न कालखण्डों का वर्गीकरण किया है। वास्तव में लोक-साहित्य और लोक-रुचि की ओर ध्यान जाने से साहित्येतिहास के काल-विभाजन में एक नया आयाम जुड़ गया है। अब साहित्येतिहास को केवल शिक्षाविदों तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। 'आधुनिक काल' को 'पूर्व-भारतेन्दु काल', 'भारतेन्दु काल', 'द्विवेदी काल', 'छायावादी-रहस्यवादी काल' आदि विभिन्न काल-खण्डों में विभाजित किए जाने के साथ-साथ उसे 'प्रारम्भिक', 'मध्य' और 'नवीन' इन सामान्य तीन काल-खण्डों में भी विभक्त किया गया है। किन्तु निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि विभिन्न इतिहास-ग्रन्थों में काल-विभाजन और नामकरण-सम्बन्धी अपनी-अपनी ग़लत या सही विशिष्टताओं के रहते हुए भी वही नाम, कुछ हेर-फेर के साथ, प्रचलित हैं जो सर्वप्रथम ग्रियर्सन ने रखे थे—अर्थात् वीरगाथा काल (या फिर आदि काल), भक्ति काल, रीति काल और आधुनिक काल। इन्हीं मूल कालों के विभाजन, उपविभाजन या तो साहित्यकारों के नामों के आधार पर या प्रवृत्ति विशेष के आधार पर या राजनीति के आधार पर (स्वतन्त्रता काल) किए गए हैं। कालों के विभाजन या नामकरण के सम्बन्ध में यदि नवीनता मिलती है तो वह रूस के कम्युनिस्ट हिन्दी-प्रेमियों के दृष्टिकोण में मिलती है और जिसकी ओर पीछे संकेत किया जा चुका है।

●

# ११. हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन की सामग्री

बहुत दिनों तक हिन्दी साहित्य की धारा अबाध गति से प्रवाहित होती रही, किन्तु उसके जन्म, विकास और विस्तार के सम्बन्ध में बहुत दिनों तक कोई प्रयास न हुआ। अपभ्रंश काल और हिन्दी के निर्माण-काल (पुरानी हिन्दी) (लगभग ६४३ ई०) से लेकर ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक हिन्दी साहित्य की सामग्री बिखरी पड़ी रही और उसके संग्रह तथा सुसम्बद्ध इतिहास-प्रणयन की ओर किसी का ध्यान न गया। कुछ कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख अवश्य किया है (चंद, जायसी, सूदन आदि कुछ कवियों द्वारा अपने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख), अथवा कुछ कवियों ने अपनी रचनाओं में स्वदेश-वर्णन और रचना-काल प्रस्तुत किया है, अथवा, उदारहणार्थ, नाभादास कृत 'भक्तमाल' में कवियों और भक्तों का उल्लेख हुआ है या गोकुलनाथ कृत कही जाने वाली 'वार्ता' (८४ और २५२ वैष्णवन की वार्ता) में वैष्णव मार्ग में दीक्षित वैष्णवों के जीवन-चरित्र और रचनाओं के कुछ उदाहरण आदि मिलते हैं। किन्तु इन्हें व्यक्तिगत प्रयास के रूप में ही ग्रहण किया जाता रहा है। वे साहित्य के समग्र रूप की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट नहीं करते और न हम इन्हें साहित्येतिहास कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें कवियों का उल्लेख धार्मिक भावना से प्रेरित होकर किया गया है, न कि व्यक्तित्व और कवित्व के आधार पर। उनसे साहित्य की प्रगति, प्रवृत्तियों और विचारों का परिचय प्राप्त नहीं होता। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में लल्लूलाल, शिवप्रसाद सितारे-हिन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि ने भाषा के सम्बन्ध में अवश्य कुछ लिखा, किन्तु साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में वे कुछ न दे सके। इस प्रकार ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक ऐसी सामग्री तो मिलती है जिससे इतिहास-लेखन में सहायता प्रा त होती है, किन्तु साहित्य की क्रमागत प्रवृत्तियों, विचारधाराओं, कवि-विवरणों का इतिहास नहीं मिलता। इतिहास अपने व्यापक, किन्तु साधारण रूप में, प्रत्येक परिवर्तन-क्रिया का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। संसार में स्थिर या अपरिवर्तनशील कुछ भी नहीं है। हमारा समाज, हमारी संस्थाएँ आदि सभी परिवर्तनशील हैं। यह परिवर्तन स्वयं, अलक्षित रूप में, होता रहता है। मनुष्य परिवर्तित परि-

स्थितियों के अनुकूल व्यवहार करने की चेष्टा करता है। परिवर्तन की यही अनिवार्य प्रक्रिया साहित्य, कला, दर्शन, राजनीति आदि में काम करती रहती है। इसीलिए एक विशेष प्रकार के साहित्य के अध्ययन के लिए उसके पीछे कार्य कर रही सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि शक्तियों का अध्ययन करना पड़ता है। साहित्येतिहास की रचना करने के लिए इस प्रकार का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। इधर कुछ दिनों से इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक ढंग के प्रयास होने लगे हैं।

अन्य साहित्येतिहासों की भाँति, हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने में सहायक सामग्री दो प्रकार की है—(१) अन्तरंग, और (२) बहिरंग। अन्तरंग सामग्री से तात्पर्य है—स्वयं कवि की रचना, स्वयं कवि द्वारा अपने या अपने वंश के सम्बन्ध में, अपने आश्रयदाता आदि के सम्बन्ध में, अपने ग्रन्थ और उसकी रचना-तिथि के सम्बन्ध में, अपने पूर्ववर्ती या समकालीन कवियों के सम्बन्ध में, आत्म-निवेदन के रूप में, अपनी रचनाओं के संग्रह तथा सम्पादन आदि के सम्बन्ध में उल्लेख। बहिरंग सामग्री वह सामग्री होती है जो स्वयं कवि द्वारा नहीं, वरन् अन्य व्यक्तियों द्वारा कवि के संग्रह, वार्ता, जीवनियाँ (जैसे, तुलसी के सम्बन्ध में बाबा वेणीमाधवदास द्वारा विरचित 'गोसाईं चरित') अथवा आधुनिक ढंग से किया गया खोज-कार्य, साहित्येतिहास आदि। यद्यपि अन्तरंग सामग्री का भी वैज्ञानिक रीति से परीक्षण-विश्लेषण करना पड़ जाता है, तो भी बहिरंग सामग्री की अपेक्षा अन्तरंग सामग्री अधिक प्रामाणिक मानी जाती है, क्योंकि वह स्वयं कवि द्वारा दी गई सामग्री है।

हिन्दी साहित्य की अन्तरंग सामग्री संकलित करने के सम्बन्ध में सबसे पहला प्रयास बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी (१७८४ ई०) ने किया था। इस सोसाइटी की स्थापना सर विलियम जोन्स की प्रेरणा से हुई थी। मूल ग्रन्थों की खोज के फलस्वरूप उन्होंने एक ग्रन्थ-माला प्रकाशित करने की योजना बनाई थी जिसके अन्तर्गत अनेक संस्कृत और हिन्दी के ग्रन्थों का पता चला। १८९३ ई० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा स्थापित हुई और १८९९ ई० से उसने मौलिक ग्रन्थों की खोज शुरू की। इस खोज की ग्यारह से अधिक रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रारम्भ में छह रिपोर्टें तो वार्षिक हैं, इसके बाद तीन-तीन वर्ष की जिल्दें निकलीं (जैसे, १९०६-१९०८, १९०९-१९११, १९११-१९१५ आदि)। खेद है कि इन उपयोगी रिपोर्टों का धीरे-धीरे प्रकाशन बन्द हो गया। इस समय नागरी प्रचारिणी सभा का रूप ही बदल गया है। इन रिपोर्टों में खोज-सामग्री अर्थात् मूल ग्रन्थों के सम्बन्ध में सूचनाएँ सम्मिलित रहती थीं। किन्तु यह खोज-कार्य समस्त हिन्दी-भाषी क्षेत्र में न हो सका। राजस्थान, पंजाब और तत्कालीन संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) के कुछ स्थानों पर ही खोजें हुईं। अतः इन रिपोर्टों से

प्राप्त जानकारी अधूरी है। दूसरी कठिनाई यह है कि इन जिल्दों में केवल सूचनाएँ हैं। वह सब सामग्री एक स्थान पर उपलब्ध नहीं कराई जा सकी। तो भी इन खोज-रिपोर्टों के आधार पर 'मिश्रबन्धु-विनोद' जैसे इतिहास-ग्रन्थ लिखे जा सके।

अन्तरंग सामग्री की खोज का कार्य राजस्थान में भी प्रारम्भ हुआ और कर्नल जेम्स टॉड (१७८२ ई०-१८३५ ई०) ने सरकारी कामकाज के अतिरिक्त ऐतिहासिक शोध की दृष्टि से अनेक ग्रन्थों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों, सिक्कों आदि का संग्रह किया। 'पृथ्वीराज रासो', 'खुँमाण रासो', 'हम्मीर रासो', 'रतन रासो', 'विजयविलास', 'सूर्यप्रकाश', 'जगतविलास' आदि हिन्दी डिंगल के ग्रन्थों की खोज की। अपने अनवरत प्रयासों के फलस्वरूप उपलब्ध खोज-सामग्री के आधार पर उन्होंने 'एनल्स ऐंड ऐंटिक्विटीज़ ऑव राजस्थान' शीर्षक इतिहास-ग्रन्थ का निर्माण किया जो दो खण्डों में प्रकाशित हुआ—पहला खण्ड १८२९ ई० में, दूसरा १८३२ ई० में। राजस्थान के इतिहास की दृष्टि से टॉड का यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तत्पश्चात् कविराजा श्यामलदान (१८३६-१८९४) ने अपने प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'वीर विनोद' की रचना के सम्बन्ध में हिन्दी, डिंगल आदि के अनेक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह किया जो वहाँ के 'सरस्वती भण्डार' और 'सज्जन-वाणी-विलास' में सुरक्षित हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री (१८५३-१९३१) को बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने पहले संस्कृत-ग्रन्थों की खोज का कार्य सौंपा था। १९०९ में उक्त सोसाइटी ने उन्हें डिंगल भाषा के ग्रन्थों के अनुसन्धान का कार्य भी सौंपा जिसका पूरा विवरण 'Preliminary Report on the operation in search of Mss. of Bardic Chronicles' में प्रकाशित हुआ। यही कार्य आगे चल कर डॉ० टैसीटरी द्वारा सम्पन्न हुआ। फिर १९१४ में डॉ० ग्रियर्सन की सिफ़ारिश पर बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने इटली निवासी डॉ० एल० पी० टैसीटरी (१८८८-१९१८) को डिंगल भाषा के ग्रन्थों की खोज के लिए भारतवर्ष बुलाया। उन्होंने जोधपुर और बीकानेर रियासतों में खोज कर डिंगल साहित्य और राजस्थान के इतिहास पर प्रचुर प्रकाश डाला। हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज के अतिरिक्त उन्होंने डिंगल के कुछ ग्रन्थों का सम्पादन किया और अनेक हस्तलिखित प्रतियों के विवरण तैयार किए जो बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा तीन भागों में प्रकाशित हुए। उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों के नाम हैं :—'छंद राउ जैतसी रउ', 'वचनिका राठौड़ रतनसिह जी री महेसदासोत री' और 'वेलि क्रिसन रुक्मणी री'। इन ग्रन्थों की भूमिकाओं से टैसीटरी की विद्वत्ता का परिचय प्राप्त होता है। वास्तव में कर्नल टॉड और डॉ० टैसीटरी इन दो विदेशी विद्वानों के अथक परिश्रम का ही परिणाम है कि आज डिंगल साहित्य को साहित्यिक, ऐतिहासिक और भाषावैज्ञानिक दृष्टि से गौरव प्राप्त हुआ है। मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ (१८४७-१९२३) ने सरकारी

नौकरी करते हुए 'कविरत्नमाला', 'महिला-मृदुवाणी', 'राज-रसनामृत' और 'राजस्थान में हिन्दी पुस्तकों की खोज' ऐसे चार ग्रन्थ प्रकाशित किए जिनसे हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने में सहायता प्राप्त होती है। इन विद्वानों के अतिरिक्त राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, संग्रह, सम्पादन और राजस्थान के इतिहास-सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन करने की दृष्टि से रामनारायण दूगड़ (१८४६-१९३१), भूरसिंह शेखावत (१८६२-१९३२), सूर्यकरण पारीक (१९०२-१९३९), रामकर्ण आसोपा (१८५७), गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (१८६३), पुरोहित हरिनारायण (१८६४), विश्वेश्वरनाथ रेउ (१८९०), नरोत्तम स्वामी (१९०४), अगरचंद नाहटा (१९१०) आदि अन्य अनेक विद्वान् विद्या-प्रेमियों ने राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज और संग्रह का महत्व-पूर्ण कार्य किया है जिसका परिचय श्री मोतीलाल मेनारिया ने दिया। स्वयं उनका 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' (प्रथम भाग १९४२ में प्रकाशित) इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कार्य है। उससे तथा अन्य उपर्युक्त प्रयासों से राजस्थान के डिंगल साहित्य, पिंगल साहित्य, जैन साहित्य और लोक साहित्य विषयक खोज-कार्य का अच्छा परिचय मिलता है।

इसके अतिरिक्त बिहार, मध्य प्रदेश और पंजाब में भी हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज और संग्रह के प्रयास हुए हैं। किन्तु अधिकांशतः ये प्रयास व्यक्तिगत प्रयासों के रूप में रहे, किसी सुसम्बद्ध योजना के रूप में नहीं। उदाहरणार्थ, राहुल सांकृत्यायन प्राचीन हिन्दी की अनेक पोथियाँ तिब्बत से लाए। पंजाब में गुरुमुखी में लिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज और संपादन की दृष्टि से कुरुक्षेत्र यूनि-वर्सिटी के प्रोफ़ेसर डॉ० जयभगवान गोयल का महत्वपूर्ण योगदान है। उनके प्रयास के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य के इतिहास में नए पृष्ठ जुड़ जाते हैं—विशेष रूप से रीति काल में। इसी प्रकार स्वामी प्राणनाथ के और उनके सम्प्रदाय के ग्रन्थों के प्रकाश में आ जाने से प्रस्तुत लेखक ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में 'मध्य काल की पाँचवीं भक्तिधारा-प्रणामी साहित्य' शीर्षक अध्याय जोड़ा है।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज और संग्रह की दृष्टि से हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दुस्तानी एकेडेमी का कोई विशेष योगदान नहीं रहा।

अन्तरंग सामग्री की खोज के अतिरिक्त उसका संग्रह भी साहित्येतिहास के लिए महत्वपूर्ण कार्य है। अभी तक भारतवर्ष में कोई ऐसा केन्द्रीय स्थान नहीं है जहाँ हस्तलिखित या मुद्रित प्रतियों का अवलोकन किया जा सके। नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन में थोड़ी-सी प्रतियाँ हैं। हिन्दी साहित्य की अन्तरंग सामग्री अभी बिखरी पड़ी है। पिछली देशी रियासतों के राजकीय पुस्तकालयों, राजा-महाराजाओं के व्यक्तिगत पुस्तकालयों और अनेक पुस्तक-भण्डारों में बहुमूल्य सामग्री दबी पड़ी है। उसका समुचित उपयोग नहीं

हो रहा। १९वीं शताब्दी और २०वीं शताब्दी के अनेक वर्षों तक प्रत्येक मुद्रित पुस्तक की कुछ मुद्रित प्रतियाँ ज़िलाधीश को दी जाती थीं और ऐसी पुस्तकें एक स्थान पर सुरक्षित रखी जाती थीं और गज़ट में उनकी विज्ञप्ति प्रकाशित होती थी। अब ऐसा न होने के कारण मुद्रित पुस्तकों के सम्बन्ध में सूचनाएँ अपूर्ण रह जाती हैं। हिन्दी की हस्तलिखित पोथियों और मुद्रित पुस्तकों का संग्रह भारतवर्ष की अपेक्षा यूरोप में कहीं अच्छा और व्यवस्थित ढंग से है—भले ही वहाँ महत्व-पूर्ण पोथियों और मुद्रित पुस्तकों की संख्या बहुत अधिक न हो। तासी के ग्रन्थ में ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं। स्वतन्त्र भारत की सरकार को चाहिए कि वह पिछली देशी रियासतों के पुस्तकालयों, पुस्तक-भण्डारों, मठों, सार्वजनिक पुस्तकालयों, निजी संग्रहों आदि से पोथियाँ लेकर किसी एक केन्द्रीय स्थान पर उन्हें सुरक्षित रखने की व्यवस्था करे, वैज्ञानिक रीति से उनके कैटेलॉग तैयार कराए और हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों को उन पोथियों का अध्ययन करने की सुविधा प्रदान करे। इतना न हो सके तो कम-से-कम इन सभी संग्रहों के कैटेलॉग मुद्रित कराकर हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों को उन्हें उपलब्ध कराए।

तीसरा कार्य इस उपलब्ध सामग्री का वैज्ञानिक सम्पादन है। हिन्दी साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों का सम्पादन अभी तक ठीक ढंग से नहीं हो सका। स्व० डॉ० माताप्रसाद गुप्त और स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस क्षेत्र में श्लाघनीय कार्य अवश्य किया था, किन्तु उनके बाद इस कार्य की कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी। वैज्ञानिक सम्पादन से तात्पर्य है कवि या लेखक की मूल रचना तक पहुँचना। नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन और कुछ विद्वानों ने व्यक्तिगत रूप में कुछ ग्रन्थों का, विशेषतः जायसी, सूर, तुलसी और बिहारी के ग्रन्थों का संपादन अवश्य कराया है, किन्तु वे आदर्श सम्पादन नहीं माने जाते। उनके सम्पादन में पर्याप्त सामग्री का उपयोग नहीं किया गया और न मूल रूप तक पहुँचने का ही प्रयत्न किया गया है।

अतएव प्रत्येक दृष्टि से हिन्दी साहित्य की अन्तरंग सामग्री का विधिवत् अध्य-यन करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। कठिनाइयों के रहते हुए भी उच्च श्रेणी का साहित्य प्रकाश में आ चुका है। अंतरंग सामग्री ही अधिक विश्वसनीय मानी जाती है क्योंकि वह स्वयं कवि की दी हुई होती है। अंतरंग सामग्री के अन्तर्गत कवियों द्वारा दी गई अपनी रचनाओं की तिथियों (उदा०, तुलसी द्वारा दी गई 'मानस' की रचना-तिथि), अपने जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के उल्लेख (उदा०, तुलसी द्वारा 'कवितावली' में अपने जीवन से सम्बन्धित कुछ बातों का उल्लेख), अपना नाम और अपनी वंश-परम्परा, अपने समय के शासक या आश्रयदाता के उल्लेख, अपने पूर्ववर्ती या समकालीन कवियों के उल्लेख (उदा०, जायसी कृत 'पद्मावत' में), देश-काल-वातावरण के उल्लेख (उदा०, भारतेन्दु कृत 'भारत-दुर्दशा' या

'प्रेम-जोगिनी' में) से साहित्येतिहास लिखने में बहुत सहायता मिलती है।

अन्तरंग सामग्री के अतिरिक्त बहिरंग या बाह्य सामग्री वह सामग्री है जो स्वयं मौलिक साहित्य से उपलब्ध न होकर दूसरे लोगों द्वारा कवि या उसकी कृति आदि के विषय में लिखे गए लेखों या ग्रन्थों से मिलती है। यह उतनी प्रामाणिक नहीं होती जितनी अंतरंग सामग्री होती है। जिस बहिरंग सामग्री से साहित्येतिहास लिखने में सहायता प्राप्त होती है उसके अन्तर्गत गोकुलनाथ कृत कही जाने वाली '८४ और २५२ वैष्णवन की वार्ता' (१५६८ ई० के लगभग), नाभादास कृत 'भक्तमाल' (१५८५ ई०), बाबा वेणीमाधवदास कृत 'गोसाईं चरित', (१६३० ई०), धुव्रदास कृत 'भक्तनामावली' (१६४१ ई०), भारतेन्दु कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' (१८७७ ई०), राधाचरण गोस्वामी कृत 'नवभक्तमाल' (१८८६ ई०) आदि अनेक ग्रन्थों का उदाहरणस्वरूप उल्लेख किया जा सकता है। वार्ताओं से पुष्टिमार्ग के अनुयायियों के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण तथ्य ज्ञात होते हैं। 'भक्तमाल' से १०८ भक्तों की धार्मिक विशेषताएँ प्राप्त होती हैं, 'गोसाईं चरित' से गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी से सम्बन्धित तथ्य प्रकाश में आते हैं, 'भक्तनामावली' में ११६ भक्तों का उल्लेख मिलता है। बहिरंग सामग्री के अन्तर्गत कवियों की रचनाओं के संग्रहों की गणना भी की जाती है। उदा० के लिए 'कविमाला संग्रह'(१६६१), कालिदास कृत 'हजारा' (१७१८ई०), दलपतिराय वंशीधर कृत 'अलंकार-रत्नाकर' (१७३५ के लगभग), प्रवीण कवि द्वारा संगृहीत 'सारसंग्रह' (१७४३ ई०), बलदेव कवि कृत 'सत्कविगिरा विलास' (१७४६ ई०), सुब्बासिह कृत 'विद्वन्मोद तरंगिणी' (१८१७ ई०), कृष्णानन्द व्यासदेव कृत 'राग सागरोद्भव' और 'राग कल्पद्रुम' (१८४३ ई०), सरदार कवि कृत 'शृंगारसंग्रह' (१८४८ ई०), भारतेन्दु कृत 'सुन्दरी तिलक' (१८६९ ई०), श्यामसुन्दरदास कृत 'हिन्दी-कोविद-रत्नमाला' (१-३ भाग, १९०९-१४ ई०), रामनरेश त्रिपाठी कृत 'कविता कौमुदी' (४ भाग, १९२२-१९२४ ई०), वियोगी हरि कृत 'ब्रजमाधुरी-सार' (१९२३ ई०) आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इन संग्रहों से अनेक रचनाएँ ही उपलब्ध नहीं होतीं, वरन् उनसे कवियों के समय का भी ज्ञान हो जाता है, क्योंकि कोई भी कवि या तो संग्रहकर्ता से पहले रहा होगा या उसका समकालीन रहा होगा। साहित्येतिहास की रचना करते समय बहिरंग सामग्री की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता का प्रश्न अवश्य उठता है। बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत मानी जाने वाली सामग्री का एक महत्वपूर्ण रूप आधुनिक है जिसका सूत्रपात १८३९-४७ ई० में फ्रांसीसी लेखक गार्सां द तासी द्वारा पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ के प्रकाशन से होता है और जिसकी परम्परा अक्षुण्ण बनी हुई है। आधुनिक प्रणाली के अनुसार रचित विश्व-कोश या अन्य प्रकार के सन्दर्भ-ग्रन्थों की गणना भी बहिरंग सामग्री के अन्तर्गत की जाती है।

हिन्दी साहित्य की इस अन्तरंग और बहिरंग सामग्री से हमारे साहित्य, हमारे देश और हमारे जीवन की अनेक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। ये विशेषताएँ सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक और ऐतिहासिक हैं। वे आध्यात्मिक ही नहीं, भौतिक आचार-विचारों से सम्बन्धित भी हैं—यद्यपि झुकाव अध्यात्म की ओर ही अधिक पाया जाता है। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक और श्रृंगारी दोनों प्रकार की रचनाएँ हुईं। साथ ही रहस्यमयी उक्तियाँ भी व्यक्त हुईं। केवल आधुनिक काल को छोड़ कर वस्तुगत शैली की प्रमुखता रही। सबसे बड़ी बात यह सामने आती है कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप हिन्दी साहित्य में भी विरोधी तत्त्वों के बीच समन्वय की भावना दृष्टिगोचर होती है—वह भी विजातीय शासनों के युग में। हिन्दी साहित्य ने इतिहास की भी यथेष्ट मात्रा में रक्षा की है—विशेषतः राजस्थानी या डिंगल साहित्य ने। उनसे ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। वैद्यक, काम-शास्त्र, संगीत, ज्योतिष आदि विविध उपयोगी और कलात्मक विषयों से सम्बन्धित रचनाओं का भी हिन्दी में अभाव नहीं रहा। हिन्दी साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में यह बात सदैव स्मरण रखने की है कि हिन्दी साहित्य के जन्म के समय एक ओर तो संस्कृत साहित्य की पुष्ट परम्परा का ह्रास हो चुका था और उसके प्रभावान्तर्गत हिन्दी साहित्य का क्षेत्र बहुत कुछ संकुचित हो गया और उसका स्वाभाविक विकास न हो सका। हिन्दी के कवियों ने संस्कृत की इसी ह्रासोन्मुखी परम्परा का अनुसरण किया। दूसरी ओर हिन्दी साहित्य का १९४७ तक का सम्पूर्ण युग राजनीतिक अशान्ति, धार्मिक उथल-पुथल, और पराधीनता का युग रहा है। विदेशी संस्कृतियों के आगमन से साहित्य के विषय, भाषा, शैली, शब्द-भण्डार, वाक्य-रचना आदि पर प्रचुर मात्रा में प्रभाव पड़ा और पड़ रहा है। इसलिए हिन्दी की विविध विधाओं का रूप प्राचीन (भारतीय) और नवीन (पाश्चात्य) का अद्भुत मिश्रण है। हिन्दी भाषा और साहित्य का 'व्यक्तित्व' यही मिला-जुला रूप है।

किन्तु हिन्दी साहित्य में अभी ऐसे अनेक स्थल हैं जिनके विषय में शंकाएँ बनी हुई हैं। आदि काल के अनेक ग्रन्थों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सन्देह बना हुआ है, तुलसी-सूर जैसे महान् कवियों की जीवनियों का प्रामाणिक रूप नहीं मिलता, अनेक कवियों के समय और उनकी रचनाओं की रचना-तिथियाँ निश्चत रूप से ज्ञात नहीं हैं। यहाँ तक कि कुछ कवियों द्वारा अपनी रचनाओं की तिथियों और वारों (दिनों) में ज्योतिष-गणना के अनुसार तालमेल नहीं बैठता। इस अनिश्चितता के मूल में भारतीय जीवन का अपार्थिव दृष्टिकोण है जिसके कारण कवियों ने न तो इतिहास की ओर अधिक ध्यान दिया और न अपने जीवन-सम्बन्धी तथ्यों की ओर। प्राचीन काल में जो कुछ लिखा गया उसमें

या तो धार्मिक दृष्टिकोण प्रमुख हो गया है या उसमें अतिरंजना से काम लिया गया है। आधुनिक काल का वैज्ञानिक और संतुलित दृष्टिकोण पिछले कालों में नहीं मिलता। जिन कवियों ने अपने सम्बन्ध में कहा है वह बहुत कम है। ठीक-ठीक तिथियाँ न मिलने से काल-विभाजन में कठिनाई पड़ती है। राजनीतिक उथल-पुथल और प्राचीन वस्तुओं को सुरक्षित न रखने की हमारी प्रवृत्ति के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य की काफ़ी सामग्री नष्ट भी हो चुकी है।

●

# १२. हिन्दी साहित्य के प्रमुख इतिहास-ग्रन्थ : मूल्यांकन

हिन्दी साहित्य की जिस पूर्वोल्लिखित अन्तरंग और बहिरंग सामग्री के आधार पर जो इतिहास-ग्रन्थ लिखे गए उनमें गार्सां द तासी का पूर्वोल्लिखित इतिहास-ग्रन्थ सर्वप्रथम ग्रन्थ है। पीछे यह बताया जा चुका है कि इस ग्रन्थ में न तो काल-विभाजन है और न साहित्यिक प्रवृत्तियों का निरूपण। उन्होंने वर्ण-क्रम से कवियों का उल्लेख किया है। ऐसा उन्होंने कुछ ऐसी कठिनाइयों के कारण किया जिनका उल्लेख प्रस्तुत पुस्तक में 'काल-विभाजन' पर विचार करते समय किया जा चुका है। तो भी प्रथम संस्करण की दूसरी जिल्द (१८४७) में हिन्दी रचनाओं का जो स्थूल वर्गीकरण किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे साहित्य की विविध प्रवृत्तियों से परिचित थे। हिन्दी-रचनाओं को उन्होंने चार भागों में विभाजित किया है—(१) आख्यान (लोकप्रिय परम्पराओं से सम्बन्धित पद्यबद्ध कहानी-किस्से), (२) आदि काव्य (जैसे, रामायण), (३) इतिहास (ऐतिहासिक-पौराणिक परम्पराओं से सम्बद्ध गाथाएँ, जैसे महाभारत या अन्य पद्यबद्ध इतिहास), (४) काव्य (किसी भी प्रकार की छोटी-छोटी काव्य-रचनाएँ)। तीसरे भाग में उन्होंने पद्य-मिश्रित गद्य की कहानियाँ भी रखी हैं—विशेषतः नैतिक कहानियों के संग्रह, जैसे, 'तोता कहानी', 'सिंहासन-बत्तीसी', 'बैताल-पचीसी' आदि। पद्य में प्रधान हिन्दी-रचनाओं का वर्गीकरण उन्होंने इस प्रकार किया है—अभंग (एक चरण विशेष में रचित गीति कविता), आल्हा, कड़खा (उत्साहवर्द्धक युद्ध-गान), कवित्त या कविता (चार पंक्तियों की छोटी कविता), कहरवा, मलार, कुण्डल्या या कुण्डर्या, गाली, गीत, गुज्जरी (एक रागिनी), चतुरंग (चार भागों की चार विभिन्न प्रकार से गाई जाने वाली कविता—खियाल, तराना, सरगम और तिरवत), चरणाकुल (विभिन्न पंक्तियों में कविता), चुटकुला, जगत वर्णन, झूलना, दोहा, बधावा, मंगल, स्तुति आदि। तासी ने कवियों और लेखकों की जीवनियों तथा ग्रन्थों पर अधिक ध्यान दिया है। साथ ही उद्धरण और विश्लेषण भी हैं। ग्रन्थ के दोनों संस्करणों की प्रत्येक जिल्द के अन्त में परिशिष्ट और लेखकों

तथा ग्रन्थों की अनुक्रमणिकाएँ हैं। यह परिशिष्ट देने की प्रवृत्ति ग्रियर्सन और मिश्रबन्धु में भी दृष्टिगोचर होती है। क्योंकि तासी भारतवर्ष नहीं आए थे, लंदन और पेरिस में बैठ कर उन्होंने अपने ग्रन्थ का निर्माण किया, इसलिए उनके ग्रन्थ में दूसरों, विशेषतः यूरोपियनों, द्वारा दिए कथनों और विवरणों का आश्रय अधिक लिया गया है। ऐसा नहीं है कि उन्होंने मूल ग्रन्थों का अध्ययन ही नहीं किया था। सभी उपलब्ध ग्रन्थों का उन्होंने अवलोकन कर अपने स्वतन्त्र निष्कर्ष भी निकाले। तो भी विदेश में बैठे रहने के कारण दूसरों के मतों और कथनों का आश्रय ग्रहण करना अनिवार्य था। इसीलिए अनेक स्थलों पर उनके द्वारा दी गई तिथियाँ, ग्रन्थ-नामावली, विश्लेषण आदि भ्रामक भी हैं। उन्हें ग्रहण करते समय सावधानी और सतर्कता की आवश्यकता है। तो भी इस इतिहास-ग्रन्थ में कवियों और लेखकों की जीवनियों और कृतियों के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ हैं। यूरोप के विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित ऐसे हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थों के हवाले दिए गए हैं जिनके परीक्षण से हिन्दी के अनेक अनमोल रत्न प्रकाश में आएँगे और सम्भवतः इतिहास पर भी नया प्रकाश पड़ेगा। कबीर, पीपा, नामदेव, तुलसी, सूर, जायसी, लल्लूलाल आदि के सम्बन्ध में तासी द्वारा दी गई सामग्री और तिथियों के परीक्षण की नितान्त आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, जायसी कृत 'कन्हावत' (१९८१ में प्रकाशित और डॉ० शिवसहाय पाठक द्वारा सम्पादित) के प्रकाशन में तासी के इतिहास-ग्रन्थ का महत्वपूर्ण योग है। जायसी के सम्बन्ध में तासी ने यह भी लिखा है—'जिन्हें जायसी-दास भी कहा जाता है जो उनके हिन्दू से इस्लाम धर्मानुयायी बनने की ओर संकेत करता प्रतीत होता है।' तासी के इस कथन का परीक्षण होना चाहिए। यह तो केवल एक उदाहरण है। उनके ग्रन्थ में ऐसी सामग्री प्रचुर मात्रा में है जिसके परीक्षण से नए तथ्यों का उद्घाटन हो सकता है। वास्तव में तासी के इस ग्रन्थ का पाद-टिप्पणियों सहित आलोचनात्मक अध्ययन अभी नहीं हुआ। सम्भवतः हिन्दी-भाषियों की फ्रेंच भाषा-सम्बन्धी कठिनाई इसका मूल कारण है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की परम्परा में महेशदत्त शुक्ल कृत 'भाषा काव्य-संग्रह' (१८७३), कहानजी धर्मसिंह कृत 'कवित्त-रत्नाकर' (१८७३), मातादीन मिश्र कृत 'कवि रत्नाकर' (१८७६), शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' (१८७७) आदि ऐसे कुछ अन्य ग्रन्थों का उल्लेख कर दिया जाता है। किन्तु, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, ये ग्रन्थ अपने में इतिहास-ग्रन्थ नहीं हैं। वे इतिहास लिखने में सहायक ग्रन्थ अवश्य हैं। सहायक ग्रन्थों के रूप में भी उनमें कवियों के जन्म-स्थान, उत्कर्ष-काल आदि के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ दी गई हैं उन्हें प्रामाणिकता की कसौटी पर कस कर ही ग्रहण किया जाना चाहिए। 'शिवसिंह सरोज'

के इस दृष्टि से तीन विभिन्न संशोधित संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं (१९२६, १९६६, १९७०)।

तासी की रचना के बाद दूसरा महत्वपूर्ण इतिहास-ग्रन्थ सर जॉर्ज ग्रियर्सन कृत 'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान' (१८८९ में एशियाटिक सोसाइटी, ५७ पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित। १८८८ में वह जर्नल ऑव द एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, भाग १, के विशेषांक के रूप में प्रकाशित) विचारणीय है। इसका हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। इस ग्रन्थ की रचना करते समय ग्रियर्सन बंगाल में डिस्ट्रिक्ट कलक्टर (ज़िलाधीश) थे और इसके बीज वियना में हुए इन्टरनेशनल कांग्रेस ऑव ओरिएंटेलिस्ट्स के १८८६ अधिवेशन में 'मेडीवल वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान—तुलसी के विशेष सन्दर्भ में' शीर्षक पठित लेख में निहित थे। उसमें ९५२ कवियों और लेखकों का उल्लेख हुआ है। 'वर्नाक्यूलर' शब्द का प्रयोग करने के कारण ग्रियर्सन ने संस्कृत, प्राकृत, अरबी, फ़ारसी और उर्दू साहित्यों पर और फिर कजरी बारहमासा आदि के रूप में लोक-साहित्य पर विचार नहीं किया। ग्रियर्सन के अनुसार संस्कृत, पालि और प्राकृत साहित्यों का प्राच्यविद्याविशारदों ने काफ़ी अध्ययन कर लिया था। नवविकसित आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं का अध्ययन करना कोई हेठी नहीं थी। वे 'वर्नाक्यूलर' साहित्य के अध्ययन को आगे बढ़ा हुआ कदम मानते थे। हेमचन्द्र (उत्कर्ष काल ११५०, मृ० ११७२) और चन्दबरदाई (मृ० ११९३) को एक-दूसरे के समीप मान कर उन्होंने 'मॉडर्न' शब्द से चन्दबरदाई और उनके परवर्ती काल का द्योतन कराया है। इस काल का साहित्य समृद्ध भी था। उसमें ललित साहित्य के अतिरिक्त व्याकरण, छन्दशास्त्र, कोश, संस्कृत ग्रन्थों की टीका आदि की रचना भी हो चुकी थी और भारत के इतिहास-लेखन के लिए भी उसमें प्रचुर मात्रा में सामग्री उपलब्ध थी। इसके अतिरिक्त, ग्रियर्सन के मतानुसार, संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि साहित्य शिक्षित समुदाय के लिए थे जब कि नवविकसित आधुनिक भारतीय-आर्य भाषा-साहित्य का जनसाधारण से सम्बन्ध था और उसमें प्रकृति के प्रति नया दृष्टिकोण भी था। अरबी, फ़ारसी और उर्दू साहित्यों पर उन्होंने इसलिए भी विचार नहीं किया क्योंकि वे तासी के अध्ययन का विषय बन चुके थे। 'वर्नाक्यूलर' से उनका मतलब विभिन्न बोलियों, उपबोलियों सहित मारवाड़ी, हिन्दी और बिहारी है। 'हिन्दुस्तान' शब्द से उनका आशय जिस भूमि-भाग से है उसकी सीमाएँ उन्होंने इस प्रकार निर्धारित की हैं—पंजाब और बंगाल के निचले भूमि-भाग को छोड़ कर राजपूताना और पूर्व में कोसी नदी तक गंगा-यमुना की घाटियाँ। यद्यपि ग्रियर्सन का यह दावा है कि उन्होंने लगभग सभी ९५२ कवियों और लेखकों की रचनाओं को पूर्ण या आंशिक रूप में, या नमूनों के रूप में, देखा था, तो भी, तासी और सेंगर के ग्रन्थों की भाँति उनके ग्रन्थ में बहुत-

से कवियों और लेखकों के नाम जन्म-तिथि, निवासस्थान आदि के साथ अध्यायों के अन्त में पूरक अंश के रूप में अथवा 'विविध' शीर्षक के अन्तर्गत दिए गए हैं। इसीलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ को विधिवत् लिखा गया साहित्येतिहास कहने में संकोच किया है। तो भी वह इतिहास तो है ही और जैसा कि पहले कहा जा चुका है उसकी सबसे बड़ी विशेषता काल-विभाजन है जिसे थोड़े-बहुत शाब्दिक हेरफेर के साथ सभी परवर्ती छोटे-बड़े इतिहास-लेखकों ने ग्रहण किया। इस दृष्टि से उनके ग्रन्थ का महत्व है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने इतस्ततः बिखरी मौलिक सामग्री के आधार पर अपने स्वतन्त्र निष्कर्ष निकाले हैं। ज़रूरत पड़ने पर उन्होंने विल्सन कृत 'रिलीजस सेक्ट्स ऑव द हिन्दूज़' और तासी के इतिहास-ग्रन्थ से अपने निष्कर्ष मिलाए और अपने समय तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रामाणिकता पर अधिक बल दिया। टॉड कृत 'राजस्थान' को उन्होंने प्रामाणिक ग्रन्थ मान कर उससे, 'शिवसिंह सरोज' (मुंशी नवलकिशोर द्वारा १८८३ में प्रकाशित उसके द्वितीय संस्करण) से और पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या से काफ़ी सहायता ली। कहने का तात्पर्य यह है कि ग्रियर्सन ने तिथि, ग्रन्थ आदि की प्रामाणिकता की ओर भरसक ध्यान दिया। आधुनिकतम खोजों के आधार पर उनकी प्रामाणिकता पर प्रश्न-सूचक चिह्न लग जाय, यह दूसरी बात है। तिथियों की दृष्टि से उन्होंने अपनी तिथियाँ दी हैं। 'शिवसिंह सरोज' से ही ली गईं तिथियाँ उन्होंने 'इटैलिक्स' में रखी हैं। जिन अठारह ग्रन्थों का उन्होंने अध्ययन किया उनकी सूची उन्होंने दे दी है।

इस इतिहास की एक और विशेषता यह है कि इसमें हिन्दी के अनेक पारिभाषिक शब्दों के अँगरेज़ी रूपान्तर दिए गए हैं—यद्यपि कहीं-कहीं वे ठीक नहीं हैं, जैसे 'वीभत्स'=the satiric style। नखशिख, नायक-नायिका-भेद आदि शब्द भी अँगरेज़ी माध्यम द्वारा विदेशियों को समझाए गए हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि ग्रियर्सन को थोड़ी ही सामग्री प्राप्त थी जिसके आधार पर उन्होंने कवियों और रचनाओं के विवरण प्रस्तुत किए, और यद्यपि उनके इतिहास में साहित्य को एक ही जीवन्त प्रवाह के रूप में नहीं देखा गया (जो उस समय सम्भव नहीं था) और न उसमें विचार-प्रवाह की अविरल और अविच्छिन्न धारा को खोज निकालने का प्रयास किया गया है, तो भी उनके ग्रन्थ में सर्वत्र प्रामाणिकता और शोध (जैसे, अनेक मैथिल कवियों के नए नाम) की ओर प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और, फिर उसमें सर्वप्रथम उन शक्तियों और साधनों, इतिहास की बदलती हुई करवटों और वैज्ञानिक आविष्कारों (रेल, तार, प्रेस) आदि की ओर ध्यान दिया गया है जिनके फलस्वरूप युग-परिवर्तन, फलतः साहित्य में परिवर्तन, उपस्थित हुआ। उन्होंने प्रत्येक युग की धड़कन पहचानने

की, राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों पर दृष्टिपात कर साहित्यिक प्रवृत्तियाँ उभारने की चेष्टा की है। इन सभी दृष्टियों से यदि ग्रियर्सन के इतिहास-ग्रन्थ को, त्रुटियों और अभावों के रहते हुए भी, अँगरेज़ी में लिखा हुआ इतिहास नाम से अभिहित किया जाने वाला सर्वप्रथम ग्रन्थ कहा जाय तो अनुचित न होगा।

पूर्वोल्लिखित एड्विन ग्रीव्स और एफ़० ई० के अँगरेज़ी में लिखित इतिहास-ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के इतिहास की केवल संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। उनमें न तो तासी जैसी संग्रह-वृत्ति दृष्टिगोचर होती है और न ग्रियर्सन जैसी शोधपरक दृष्टि। उन्होंने अपने समय तक उपलब्ध इतिहास-सम्बन्धी सामग्री का समुचित प्रयोग कर अपनी-अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, 'मिश्रबन्धु विनोद' हिन्दी में लिखित पहला इतिहास-ग्रन्थ है जिसमें काल-विभाजन दिया गया है (अँगरेज़ी में सर्वप्रथम ग्रियर्सन द्वारा)। मिश्रबन्धु ने ग्रियर्सन का ग्रन्थ अवश्य देखा था, यद्यपि काल-विभाजन अपने ढंग से किया है। स्वयं मिश्रबन्धु के अनुसार : "पहला संस्करण संवत् १९७० में निकला था। उस समय उसमें तीन भाग, १५९३ पृष्ठ तथा ३७५७ कवियों और लेखकों के विवरण थे। इनमें से ३०१२ के कथन समालोचनाओं तथा चक्रों में थे, एवं शेष ७४५ वर्तमान लेखकों की एक सूची दे दी गई थी। दूसरे संस्करण में चार भाग एवं ४१२, ५६६, ३६४ और ६६०, कुल २००५ पृष्ठ थे, जिनमें से ७४५ लेखकों की उपर्युक्त सूची निकाल डाली गई थी। कुल मिलाकर ४५९१ कवियों और लेखकों के विवरण समालोचनाओं तथा चक्रों में दिए गए थे। जब तक चतुर्थ भाग निकले, उसके पूर्व ही प्रथम भाग का तृतीय संस्करण, सं० १९८६ में, निकल गया। प्रथम तीन भागों के द्वितीय संस्करण उसी बीच में निकले। चौथा भाग एक नवीन ग्रन्थ है। इसकी प्रथमावृत्ति सं० १९९१ में निकली। इसका प्राय: सब मसाला नवीन है, अर्थात् अन्य ग्रन्थों से न लिया जाकर जाँच से प्राप्त किया गया है।...यह भाग सं० १९४५ से १९९० तक चलता है।"

ग्रन्थ के स्वयं रचयिताओं के कथनानुसार हिन्दी का इतिहास-ग्रन्थ बनाने का विचार उन्होंने पहले-पहल दिसम्बर, सं० १९५८ की 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकट किया था। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने भी उनसे २०० पृष्ठों का हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के लिए कहा था। किन्तु उस समय उनका ध्यान समालोचनाएँ लिखने पर केन्द्रित रहा जिसके फलस्वरूप उनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दी नवरत्न' (१९१० ई० या १९६७ वि०) प्रकाशित हुआ। उस समय एक सौ समालोचनाओं के सहारे 'विनोद' की रचना करने का उनका विचार था। किन्तु धीरे-धीरे ग्रन्थ का आकार बढ़ता गया। आकार बढ़ने का कारण वर्णन-पूर्णता के प्रति उनका आग्रह है जिसके फलस्वरूप उन्होंने छोटे-बड़े और केवल सूचना मात्र सभी कवियों का उल्लेख किया है। उनके ग्रन्थ की आधार-सामग्री—

संवतों और ग्रन्थों की दृष्टि से—स्वयं लेखकों के अनुसार इस प्रकार है :— (१) स्वयं कवियों की रचनाएँ, (२) अन्य कवियों की रचनाएँ, (३) काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टें, (४) 'शिवसिंह सरोज', (५) ग्रियर्सन कृत इतिहास-ग्रन्थ और लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया, (६) उनकी अपनी जाँच और किंवदन्तियाँ, (७) जोधपुर निवासी मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ के लेख, और (८) अन्य ग्रन्थ। इन आधारों पर प्राप्त सभी कवियों की तिथियों और रचनाओं का उल्लेख इस ग्रन्थ में कर दिया गया है। जहाँ 'सरोज' और 'खोज रिपोर्टों' में भेद मिला वहाँ उन्होंने 'खोज रिपोर्टों' को प्रामाणिक माना।

ग्रन्थ की रचना तीन भाइयों ने मिल कर की। कुछ अंश तीनों ने अलग-अलग लिखे और कुछ अंश सबने परस्पर विचार-विनिमय के बाद लिखे। किन्तु किसी एक भाई का नामोल्लेख न कर उन्होंने सर्वत्र 'हम' शब्द का प्रयोग किया है। ग्रन्थों, तिथियों, रचना-काल आदि की दृष्टि से उन्होंने अधिकतर अन्तरंग सामग्री का आश्रय ग्रहण किया है। जहाँ रचना-काल नहीं मिला, वहाँ उन्होंने जन्म-काल में २० से ३० वर्ष जोड़ कर कविता-काल निकाल लिया है। साथ ही मूल रचनाओं और कविता-संग्रहों से भी उन्होंने कवियों का समय अनुमान के आधार पर निर्धारित किया है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, कालिदास कृत 'हजारा' जैसे काव्य-संग्रहों से कवियों का समय निकालने (यदि संग्रह का समय ज्ञात है) और अनेक कवियों के नाम ज्ञात करने से इतिहास-लेखन में सहायता मिलती है। मिश्रबन्धु ने यह सहायता, स्वयं उन्हीं के अनुसार, निम्नलिखित संग्रह-ग्रन्थों से ली—

१. 'कविमाला संग्रह' (१६६१ ई०)
२. 'कालिदास हजारा' (१७१९ ई० के लगभग)
३. दलपतिराय-वंशीधर कृत 'अलंकार रत्नाकर' (१७३५ ई० के लगभग)
४. प्रवीण कवि कृत 'सार संग्रह' (१७४३ ई०)
५. 'सत्कविगिराविलास' (१७४६ ई०)
६. 'विद्वन्मोदतरंगिणी' (१८१७ ई०)
७. 'राग सागरोद्भव' (१८४३ ई०)

इसके अतिरिक्त सूदन कृत 'सुजान चरित' (१७५३ ई०) और सूर्यमल्ल कृत 'वंश भास्कर' (१८४० ई०) में दी गई कविनामावली से भी सहायता ली। कवियों की जीवनी, उनके समय आदि के सम्बन्ध में मिश्रबन्धु ने पत्र लिख-लिख कर अनेक सूचनाएँ प्राप्त कीं। किन्तु उनकी प्रामाणिकता की जाँच होना आवश्यक है। बाबू श्यामसुन्दरदास, गोविन्द गिल्लाभाई, रामचन्द्र भालेराव, मुंशी देवी प्रसाद, हित रूपलाल गोस्वामी, लाला भगवानदीन, मन्नन द्विवेदी गजपुरी, युगल

किशोर, महाराजा सर विश्वनाथ जू देव आदि साहित्य-प्रेमियों, उनके निजी पुस्तकालयों और संग्रहों से भी उन्होंने सहायता ली।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'विनोद' की रचना करते समय मिश्रबन्धु ने विभिन्न स्थानों से मधु-संचय करने में तनिक भी संकोच नहीं किया और जहाँ तक हो सका है अपने समय तक उपलब्ध सामग्री का भरपूर उपयोग किया है। उन्होंने उसे अधिकाधिक पूर्ण बनाने की चेष्टा की है जिसके फलस्वरूप वे (१) उपलब्ध सामग्री की प्रामाणिकता पर विचार नहीं कर पाए, और (२) अनावश्यक नामों की भरमार हो गई है। आज के शोधछात्र के लिए ग्रन्थ भले ही उपयोगी हो (जैसे विभिन्न खोज रिपोर्टें उपयोगी हैं), किन्तु इतिहास के रूप में ग्रन्थ बिखर गया है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण उभर नहीं पाया। साथ ही उनके काल-विभाजन से विभिन्न कालों की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट नहीं हो पाईं (उदा० 'आदि प्रकरण' है)। उनका विभाजन स्थूल है। उन्होंने अपने ग्रन्थ को 'हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा कवि-कीर्त्तन' कहा है। किन्तु वह इतिहास कम और कीर्त्तन अधिक बन कर रह गया है। वह 'कवि-वृत्त-संग्रह' है। कवि-संख्या-बाहुल्य के कारण वे सभी कवियों की आलोचना प्रस्तुत नहीं कर सके। जिन कवियों के नाम नोटिस मात्र हैं (ऐसे कवियों की संख्या काफ़ी अधिक है) उनकी तो आलोचना हो ही नहीं सकती थी। किन्तु जिन कवियों की आलोचना प्रस्तुत की गई है वह स्तुति-निन्दा-परक आलोचना है, 'वाह-वाह' वाली आलोचना है। उन्होंने कवियों का श्रेणी-विभाजन कर उनकी छोटाई-बड़ाई निर्धारित की है। उनका विश्वास था कि बिना श्रेणी-विभाग स्थिर किए कवियों की प्रशंसा या निन्दा किया जाना कठिन है। यह उनकी अपनी नवीनता है—यद्यपि आलोचना का यह कोई आधार नहीं है और जब 'विनोद' प्रकाशित हुआ था उस समय कुछ विद्वान् रुष्ट भी हुए थे। अनेक स्थलों पर उन्होंने श्रेणी-विभाग के कारण भी नहीं बताए, अपनी रुचि से काम लिया है, कारण-कथन-हीन सम्मति प्रदान की है। श्रेणी-विभाजन या छोटाई-बड़ाई निर्धारित करने का उनका आधार काव्य-प्रौढ़ता या काव्योत्कर्ष है। काव्योत्कर्ष का उन्होंने कोई एक कारण नहीं माना। प्रत्येक छन्द के लिए उनका अपना पृथक् मापदण्ड है। छन्द-लालित्य, काव्यशास्त्र में उल्लिखित काव्य-गुण और काव्य-दोष, शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के सुन्दर-असुन्दर प्रयोग, शब्द-शक्ति, रस-परिपाक, वर्णन-प्रभाव, प्रबन्ध-योजना आदि पर अथवा काव्य-रीति (जिसमें शब्द-शक्ति, पिंगल, गुण-दोष, सभी अवयवों के साथ रस, नायक-नायिका-वर्णन, भाषा-सौष्ठव आदि शामिल हैं) पर आधारित प्रणाली उन्होंने ग्रहण की। आलोचना की प्राचीन परिपाटी का उन्होंने आश्रय लिया। 'विनोद' की रचना-प्रणाली की ओर इशारा करते हुए रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन—"भिन्न-भिन्न शाखाओं के हज़ारों कवियों की केवल काल-क्रम से गुँथी उपर्युक्त

वृत्तमालाएँ साहित्य के इतिहास के अध्ययन में कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती थीं ? सारे रचना-काल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खंडों में आँख मूँदकर बाँट देना—यह भी न देखना कि किस खंड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं—किसी वृत्त-संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता" तटस्थ और उचित नहीं जान पड़ता। वास्तव में यह वृत्त-संग्रह उस समय तक उपलब्ध सामग्री की दृष्टि से विश्व-कोश जैसा है। जिस समय 'विनोद' की रचना हुई उसे ध्यान में रखते हुए, उस समय हिन्दी साहित्य की बिखरी हुई सामग्री को एक ग्रन्थ में रखने की दृष्टि से और हिन्दी में लिखित प्रथम साहित्येतिहास ग्रन्थ होने के नाते, साथ ही इतिहास का रूप न उभर पाने पर और अनेक दोषों और अभावों के रहने पर भी, 'विनोद' का ऐतिहासिक महत्व है। वह हिन्दी साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है। आगे के लेखकों के लिए इस ग्रन्थ ने पथ-प्रदर्शक का कार्य किया है। यद्यपि मिश्र-बन्धु कृत 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' (१९३८) और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९३९) अन्य दो इतिहास-ग्रन्थ भी हैं, तो भी 'हिन्दी नवरत्न' (सं० १९६७—१९१० ई०, सं० १९९२ में संक्षिप्त संस्करण) और 'विनोद' ही उनकी कीर्ति के प्रधान स्तम्भ हैं।

'विनोद' के बाद दूसरा महत्वपूर्ण साहित्येतिहास ग्रन्थ रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९२९) है। स्वयं लेखक के अनुसार यह इतिहास 'हिन्दी-शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में 'हिन्दी-साहित्य का विकास' नाम से सन् १९२९ के जनवरी महीने में निकल चुका था। विश्वविद्यालयों में हिन्दी की उच्च शिक्षा का विधान हो जाने से उसके साहित्य के विचार-शृंखलाबद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव अध्यापकों और छात्रों द्वारा होने से लेखक ने उसके अलग पुस्तकाकार संस्करण में अनेक परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन किए। इस सम्बन्ध में उन्होंने फिर कहा है : "पाँच या छः वर्ष हुए छात्रों के उपयोग के लिए मैंने कुछ संक्षिप्त नोट्स तैयार किए थे जिनमें परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जन-समूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरूपण का एक ढाँचा खड़ा किया गया था। 'हिन्दी-शब्द-सागर' समाप्त हो जाने पर उसकी भूमिका के रूप में भाषा और साहित्य का विकास देना भी स्थिर किया गया। अतः एक निश्चित समय के भीतर ही यह इतिहास लिख कर पूरा करना पड़ा। साहित्य का इतिहास लिखने के लिए जितनी अधिक सामग्री मैं ज़रूरी समझता था, उतनी तो उस अवधि के भीतर न इकट्ठी हो सकी, पर जहाँ तक हो सका आवश्यक उपादान सामने रख कर यह कार्य पूरा किया"। यह उनके इतिहास-ग्रन्थ के जन्म की कहानी है। इसका प्रभाव शुक्ल जी के इतिहास-ग्रन्थ पर पड़े बिना नहीं रह सका। कोश के लिए लिखा जाने के कारण उसकी अपनी सीमाएँ

रहीं । उदाहरणार्थ, प्रत्येक युग की जीवन-परिस्थितियों और उसकी सर्जनात्मक चेतना के पीछे काम कर रहीं शक्तियों का वे भली भाँति विश्लेषण नहीं कर सके । जो विश्लेषण किया भी है वह स्थूल है और अब उसका खण्डन भी हो चुका है । उदा०, भक्ति-आन्दोलन के पीछे शुक्ल जी ने हिन्दुओं की नैराश्यजनित अवस्था का उत्तरदायित्व माना है। उनका यह मत अब स्वीकार नहीं किया जाता और यह सिद्ध कर दिया गया है कि भक्ति-आन्दोलन पहले से चला आ रहा था और विदेशियों के आक्रमण से पूर्व यह दक्षिण में जन्म धारण कर चुका था । इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के साथ सम्पर्क स्थापित होने पर भारत में जो एक 'spiritual conflict' पैदा हो गया था, उसका विवेचन भी शुक्ल जी ने नहीं किया । उस समय अनुपलब्ध सूचनाओं और सामग्री के कारण उनके कुछ निष्कर्ष भी अब खरे नहीं उतरते । उनका कथन कि लल्लूलाल, सदल मिश्र और इंशा खड़ीबोली के इन प्रथम तीन उन्नायकों के बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक खड़ीबोली गद्य शून्य रहा, वास्तविकता से दूर है । लल्लूलाल कृत 'माधोविलास' उन्होंने काव्य-ग्रन्थ बताया है । है वह ब्रज-भाषा गद्य-ग्रन्थ । ईसाई मिशनरी साहित्य के सम्बन्ध में भी उनकी दी हुई सूचनाएँ बहुत ठीक नहीं हैं । इसके अतिरिक्त, स्वयं शुक्ल जी के शब्दों में, छात्रों के उपयोग के लिए उन्होंने जो नोट्स तैयार किए थे वही कालान्तर में इतिहास के रूप में विकसित हुए । पीछे यह बताया जा चुका है कि साहित्येतिहास केवल कक्षा में पढ़ाए जाने वाला विषय नहीं है । क्योंकि उन्होंने विद्यार्थियों को ध्यान में रखते हुए अपने नोट्स तैयार किए थे, इसलिए उनका इतिहास, इतिहास कम और व्यक्तिगत कवियों की आलोचना अधिक हो गया है। इतिहास में आलोचना रह सकती है, किन्तु इतिहास का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती । आलोचक के उत्तरदायित्व का निर्वाह तो उन्होंने किया, किन्तु व्यक्तिगत कवियों के माध्यम से 'continuity of human experience' की खोज का, अथवा एमर्सन के इन शब्दों "when facts yield their secret sense, and poetry and annals are alike" का उनके इतिहास-ग्रन्थ में अभाव दृष्टिगोचर होता है। वैसे कवि-वृत्त-संग्रह की प्रवृत्ति से ऊपर उठ कर पहली बार हिन्दी साहित्य की धड़कन पहचानते हुए, जीवन्त मानव-विचार के गतिशील प्रवाह को पहचानते हुए, केवल शिक्षित जनता की चित्तवृत्तियों को पहचानते हुए, पिछले इतिहासकारों की अपेक्षा कुछ व्यापक दृष्टिकोण ग्रहण करते हुए, उन्होंने क्रमबद्ध इतिहास लिखा, इस दृष्टि से उनका महत्व अवश्य है । तो भी 'भूतो न भविष्यति' की उक्ति चरितार्थ करने वाला यह ग्रन्थ कदापि नहीं है ।

डॉ० श्यामसुन्दरदास कृत 'हिन्दी साहित्य' में विषय-निरूपण की शैली लगभग वही है जो रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में ग्रहण की गई मिलती है अर्थात्

विभिन्न कालों की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक आदि स्थितियों का निरूपण और प्रतिभाशाली तथा विचक्षण कवियों और लेखकों की प्राप्त विशेषताएँ। इसलिए इस सम्बन्ध में कोई विशेष बात नहीं है। किन्तु उनके इतिहास-ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि उन्होंने एक साहित्यिक प्रवृत्ति का प्राचीन काल से आधुनिक काल तक सातत्य स्थापित करने की क्षीण चेष्टा की है। वीरगाथाओं का अध्ययन उन्होंने 'वीरगाथा काल' तक ही सीमित नहीं रखा, वरन् मुगल काल के अन्तर्गत भूषण, लाल और सूदन की रचनाओं पर और फिर आधुनिक काल की वीर रस की कविताओं पर संक्षेप में दृष्टिपात कर माखनलाल चतुर्वेदी, गया प्रसाद शुक्ल, अनूप, वियोगी हरि, लाला भगवानदीन आदि का उल्लेख कर उनका राष्ट्रीय भावना से सम्बन्ध स्थापित किया है। राम-भक्ति-शाखा के सम्बन्ध में उन्होंने रीवा-नरेश विश्वनाथ सिंह तथा रघुराज सिंह और मैथिलीशरण गुप्त कृत 'साकेत' (इतिहास के तृतीय संस्करण, संवत् २००१ में) की ओर संकेत किया है, कृष्ण-भक्ति-शाखा के सिलसिले में पं० सत्यनारायण कविरत्न, अयोध्या सिंह उपाध्याय ('प्रियप्रवास'), मैथिलीशरण गुप्त ('विरहिणी ब्रजांगना') का उल्लेख कर दिया है। इससे उनके दृष्टिकोण का पता चलता है। एक साहित्यिक प्रवृत्ति का सातत्य उनकी दृष्टि में था। सातत्य खोजने की यह प्रवृत्ति रामचन्द्र शुक्ल के या अन्य परवर्ती लेखकों के इतिहास-ग्रन्थों में नहीं मिलती। श्यामसुन्दरदास ने अपने इतिहास की इस विशेषता को कुछ और विस्तार प्रदान किया होता, तो निस्संदेह उनके इतिहास-ग्रन्थ का अपना अलग विशिष्ट स्थान होता।

इन प्रारम्भिक महत्वपूर्ण ग्रन्थों के बाद जो इतिहास-ग्रन्थ लिखे गए उनकी अपनी-अपनी कुछ विशेषताओं के अतिरिक्त मोटे तौर पर उनका पैटर्न बहुत-कुछ इन प्रारम्भिक ग्रन्थों जैसा ही है। सूर्यकान्त शास्त्री कृत 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (१९३०) की मुख्य विशेषता है प्रमुख कवियों की विस्तृत तुलनात्मक आलोचनाएँ। 'हरिऔध' जी ने अपने ग्रन्थ में भाषा और इतिहास पर विशेष बल देते हुए अत्यन्त सुन्दर उद्धरण दिए हैं। 'रसाल' जी ने धार्मिक और शौर्य-सम्बन्धी अनेक विषयों पर सुन्दर प्रकाश डालते हुए रीति काल के कवियों की रचनाओं में कृष्ण-भक्ति का आभास देखा है। घोर शृंगारी रचना की भी उन्होंने भक्ति-पक्ष में व्याख्या की है। ब्रजभाषा के कट्टर पक्षपाती होने के कारण उनमें खड़ीबोली को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की तीन रचनाएँ हैं—'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का आदि काल' और 'हिन्दी साहित्य'। इनमें से अन्तिम पुस्तक की रचना तो उन्हें करनी ही नहीं चाहिए थी। शायद किसी प्रकाशक के अनुरोध पर की हो, कहा नहीं जा सकता। किन्तु यह रचना अत्यन्त साधारण कोटि की है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में भारतीय साहित्य की जो एक समृद्ध अविच्छिन्न विकास-

परम्परा अति प्राचीन काल से चली आ रही थी और उसे गति प्रदान करने में जो अनेक ऐतिहासिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि कारण थे उन पर विचार करते हुए लेखक ने यह सिद्ध किया है कि हिन्दी-भाषी जनसमुदाय ने पिछले हज़ार वर्षों में जो सोचा-समझा है वह किसी हृतदर्प पराजित जाति का सोचना-समझना न होकर चौमुखी प्रकृति और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और भिन्न-भिन्न विचारों के संघर्ष में आने के फलस्वरूप वह अतिशय रक्षणशील और पावित्र्याभिमानी रहा है। लेखक ने हिन्दी के, विशेषतः आदिकालीन और मध्यकालीन चिन्तन-मनन के, स्रोत-सूत्र संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यों में खोज कर सुन्दर निष्कर्ष निकाले हैं। आधुनिक काल से सम्बन्धित अंश कमज़ोर है। यह पुस्तक पुराने लेखकों और कवियों के नामों का संग्रह मात्र न होकर अनेक प्रकार की शक्तियों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का गम्भीर अध्ययन है। इस दृष्टि से यह पुस्तक हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करने के लिए मौलिक दृष्टि प्रदान करती है। इससे लेखक के प्राचीन साहित्य, इतिहास, संस्कृति के अच्छे अध्ययन का परिचय प्राप्त होता है। हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का आदि काल' है और इससे भी उनके मौलिक चिन्तन का परिचय प्राप्त होता है। अन्धकार में लिप्त आदि काल को प्रकाश में लाने का उनका यह स्तुत्य प्रयास है और, सम्भवतः, पहला प्रयास है। इसमें बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के तत्वावधान में दिए गए पाँच भाषण हैं। आदि काल सभी दृष्टियों से एक संघर्षपूर्ण काल था। एक ओर प्रतिभाशाली आचार्य धर्म और दर्शन के क्षेत्र में चिन्तन-मनन कर रहे थे, तो दूसरी ओर निरक्षर सन्त ज्ञान-गंगा में अवगाहन कर रहे थे। लेखक ने आदि काल के काव्य-रूपों के उद्भव और विकास पर दृष्टिपात करते हुए परवर्ती हिन्दी साहित्य के काव्य-रूपों के अध्ययन में सहायता प्रदान की है। जैन, जैनेतर साहित्य, रास-परम्परा, मध्यदेशीय साहित्य, देश-भाषा, 'पृथ्वीराज रासो' का विस्तृत अध्ययन, मंगल काव्य, 'शब्द' आदि विभिन्न विषयों पर उन्होंने ऐतिहासिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में आदिकालीन मध्यदेशीय साहित्य के स्रोत-सूत्र उसी प्रकार खोजे हैं जिस प्रकार 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में। दोनों पुस्तकों में लेखक का दृष्टिकोण लगभग समान है जिससे हिन्दी भाषा और साहित्य के अविच्छिन्न प्रवाह को वैज्ञानिक दृष्टि से समझने में अत्यधिक सहायता प्राप्त होती है।

पूर्वोल्लिखित अन्य इतिहास-ग्रन्थों की भी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। उनमें शोधपरक दृष्टि, आलोचना, तर्क, प्रमाण आदि के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। प्रस्तुत लेखक के इतिहास-ग्रन्थों में नवीन परिस्थितियों के फलस्वरूप उत्पन्न जीवन-शक्तियों और साहित्य के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करते हुए साहित्य में व्यक्त नवोत्पन्न चेतना पर प्रकाश डाला गया है। पाश्चात्य और भारतीय

सभ्यता और संस्कृतियों के फलस्वरूप परस्पर सम्पर्क से साहित्य में उत्पन्न नवीन बौद्धिक जागरण का उनमें विश्लेषण हुआ है। डॉ० श्रीकृष्णलाल के इतिहास में अस्थि-पंजर है, रक्त और मांस का अभाव है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने लोक-परम्पराओं पर भी दृष्टिपात किया है। डॉ० दयानन्द श्रीवास्तव के इतिहास में शोधपरक दृष्टि, इस समय तक प्रस्तुत तथ्यों और मतों का परीक्षण-विश्लेषण और अपने निजी निष्कर्ष हैं। इतिहास-ग्रन्थों की इस परम्परा के पुष्पित-पल्लवित होने में विभिन्न विश्वविद्यालयों (प्रमुखतः इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के हिन्दी विभागों का सक्रिय योगदान रहा है।

इन स्वतन्त्र रूप से लिखे गए इतिहास-ग्रन्थों के अतिरिक्त हिन्दी में कुछ सम्पादित इतिहास-ग्रन्थ हैं, जैसे, नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' (१७ भागों में आयोजित, प्र० भाग १९५७ ई०, २०१४ वि० में प्रकाशित हुआ), भारतीय हिन्दी परिषद् द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी-साहित्य' (तीन खण्ड, क्रमशः १९६२, १९५९, १९६९ ई०), डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९७३ ई०), केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय द्वारा प्रकाशित 'भारतीय भाषाओं के साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' (१९७४ ई०) आदि। इनमें विस्तृत हिन्दी क्षेत्र के दीर्घकालीन, विविधता-सम्पन्न साहित्य का समवेत विकास और साहित्यिक प्रवृत्तियों और कृतियों का आकलन अवश्य प्रस्तुत किया गया है, किन्तु वे विविध लेखकों द्वारा लिखे गए अध्यायों का सम्पादन मात्र हैं, उनमें किसी एक दृष्टिकोण का समन्वयन नहीं हुआ। 'पुष्टिमार्ग' ग्रहण किए जाने के कारण ऐसे लेखकों से अध्याय लिखाए गए हैं जो उस विषय के अधिकारी नहीं हैं, फलतः, उनमें मौलिकता का अभाव और इस घड़े का पानी उस घड़े में भरने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। हिन्दी का यह 'पंचायती' काम बहुत सफल हुआ नहीं कहा जा सकता। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा प्रकाशित संक्षिप्त इतिहास में यदि, जैसा कि मैं पीछे कह चुका हूँ, प्रत्येक भाषा का अलग-अलग साहित्येतिहास प्रस्तुत करने के बजाय ऐसा इतिहास प्रकाशित किया होता जिसमें भारतवर्ष की सभी भाषाओं के इतिहास का संघटित या समाकलित रूप प्रस्तुत किया जाता तो कहीं अधिक वैज्ञानिक होता। उससे भारत का सम्यक् साहित्यिक रूप सामने आ जाता। उदाहरणार्थ, यदि यह विचार एक साथ किया जाता कि जब हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जो कुछ लिख रहे थे, तो उस समय भारत की अन्य भाषाओं में क्या लिखा जा रहा था। इससे एक राष्ट्र भारतवर्ष की मानसिक एवं बौद्धिक धड़कन का एक अखण्ड चित्र प्रस्तुत हो जाता। इससे इतिहास-लेखन की परम्परा एक कदम और आगे बढ़ती।

## १३. नई दिशा

इतिहास और साहित्येतिहास सम्बन्धी आधुनिकतम धारणा और हिन्दी साहित्येतिहास पर विचार कर लेने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी के साहित्येतिहास-ग्रन्थों की जो परम्परा ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी से चली वह अब तक अक्षुण्ण बनी हुई है। लेखक परम्परा का बन्धन तोड़ने के लिए इच्छुक भी प्रतीत नहीं होते। फलतः, हिन्दी के इतिहास-ग्रन्थों में बासीपन आ गया है। इतिहास-लेखन की किसी नवीन मौलिक प्रणाली के स्थान पर इस घड़े का पानी उस घड़े में भरने की प्रवृत्ति अधिक दृष्टिगोचर होती है। वही कवि-वृत्त-संग्रह, वही कालक्रमानुसार रखी गईं रचनाओं का अध्ययन, वही थोड़ी-सी आलोचना आदि बातें उनमें पाई जाती हैं। कोई गुणात्मक परिवर्तन उनमें नहीं हुआ। पश्चिम के विद्वान् इस दिशा में आगे बढ़ चुके हैं। रेने वेलेक, नॉर्थरोप फ़्राइ (Frye), ज्योर्जी (Gyorgy), लूकाक्स आदि ने साहित्येतिहास-लेखन के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किए थे उन्हें आधार मान कर यूरोप और अमरीका में उनके विचारों को या तो विस्तृत फलक प्रदान किया जा रहा है अथवा वे नया मार्ग खोजने में संलग्न हैं। हान्स रॉबर्ट जौस (Hans Robert Jauss), अलसटेअर फ़ाउलर (Alastair Fowler), रॉबर्ट वाइमन (Robert Weimann), डी० डब्ल्यू० रॉबर्ट्सन (D. W. Robertson), जौफ़े हार्टमैन (Geoffrey Hartman),लुइ मिंक (Louis Mink), वाल्फ़गैंग आइसर (Walfgang Iser), माइकेल रिफ़ाटेअर (Michael Rifaterre) आदि विद्वानों ने, आपस में थोड़ा मतभेद रहते हुए भी, साहित्येतिहास-लेखन के नए आधार खोजे हैं। उनके विभिन्न मतों का विस्तृत परिचय देना तो यहाँ सम्भव नहीं है, न आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु लगभग सभी ने यह बात स्वीकार की है कि एक साहित्यिक रचना मात्र 'मील का पत्थर' या 'स्थिर ऐतिहासिक स्मारक' की भाँति नहीं होती। वह पाठक, पठ्य, चारों ओर के समुदाय और स्वयं अपने निष्पादन में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करती है जो ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेष्य होती है। पाठक तरह-तरह के होते हैं। प्राचीन रचना के प्रति उनकी प्रतिक्रिया भी अपने-अपने ढंग की होती है। प्राचीन रचनाएँ कुछ प्रश्न उठातीं और उनका उत्तर देती हैं। इसलिए

प्राचीन रचनाओं द्वारा प्रस्तुत और पाठकों द्वारा पुन: उठाए गए प्रश्नों और उत्तरों के अनुक्रम या सिलसिले का अध्ययन साहित्येतिहास का प्रधान आधार है। आलोचक भी अपने ढंग से प्रश्न उठा सकता है, किन्तु उसे भी अन्ततोगत्वा ऐतिहासिक अनुक्रम में पाठकों की प्रतिक्रिया का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। वह ऐसे प्रश्नों पर विचार करता है जो प्रारम्भिक, बाद के तथा सामयिक पाठकों द्वारा उठाए जाते हैं। तभी आलोचक की अपनी धारणा का जन्म हो सकता है। यद्यपि उपर्युक्त विद्वानों में से कुछ की दृष्टि में यह सम्बन्ध ऐतिहासिक रूप में अवधार्य नहीं है, तो भी वे साहित्येतिहास-रचना में विभिन्न कालों के पाठकों के विभिन्न वर्गों की प्रभावग्राहिका शक्ति, प्रतिक्रिया, प्रतिक्रिया की प्रक्रिया द्वारा अदा की गई भूमिकाओं का अध्ययन करना तो आवश्यक समझते ही हैं। ऐतिहासिक प्रक्रम में अधिक विश्वास न कर वे रचनाओं की ऐतिहासिक क्रमिकता की प्रत्ययात्मा परिकल्पना की विवृति करना साहित्येतिहास का उद्देश्य मानते हैं। पाठकों और रचनाओं के परस्पर सम्बन्ध के सातत्य के अतिरिक्त अध्ययन-विधि और प्रसिद्ध साहित्यिक तथा अल्पज्ञात साहित्यिक, साथ ही असाहित्यिक, रचनाओं के अन्तर पर भी उन्होंने बल दिया है। रचना, पाठक-वर्ग और आलोचक की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के अतिरिक्त, हार्टमैन, मिंक आदि का यह भी कहना है कि रूपात्मक विधान से परे अपनी चेतना, अन्तर्दृष्टि और भाषाई पूर्णता के कारण प्रत्येक रचना का अपना विशिष्ट अस्तित्व होता है। पाठक की विशेष भूमिका स्वीकार करते हुए, अतीत के प्रवाह में रचना का महत्व स्वीकार करते हुए भी, वे रचना को अतीत के बोझ से मुक्त रूप में देखना चाहते हैं। उनके मतानुसार इतिहास-लेखक की दृष्टि 'authentic responses' पर केन्द्रित रहनी चाहिए। शब्दों के प्रयोग और उनके प्रति पाठकों की प्रतिक्रिया इस कार्य में उनकी सहायता करती है। रिफ़ाटेअर शैलीगत अध्ययन को इतिहास का आधार बनाने के पक्ष में हैं क्योंकि, उनके मतानुसार, पाठ अपरिवर्तनशील होता है। शब्दों के अर्थ किस प्रकार बदलते हैं और मूल अर्थ किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है, इस समस्या का समाधान ही साहित्येतिहास है। उनकी दृष्टि में साहित्येतिहास 'history of words' है। वे पाठक की अवहेलना तो नहीं करते, किन्तु पाठ को चिरस्थायी मान कर भविष्य में उनकी अनेक व्याख्याएँ किए जाने की सम्भावना में उन्हें विश्वास है।

उपर्युक्त मात्र संकेतित मत यह सिद्ध करते हैं कि साहित्येतिहास-लेखन में विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार के पाठकों की विभिन्न प्रतिक्रियाओं की शृंखला और प्रत्येक युग में उठाए गए प्रश्नों और उनके उत्तरों की कड़ियाँ जोड़ना महत्वपूर्ण है। इससे साहित्य के बदलते हुए आदर्श पर प्रकाश पड़ता है। साथ ही प्रत्येक युग के साथ भाषा का आदर्श बदलता है, शब्दों के अर्थ बदलते हैं। उनकी

ऐतिहासिक व्याख्या आवश्यक है। इसलिए आलोचक साहित्येतिहास को अर्थ-निर्णय से बाह्य भले ही समझें, तो भी वह आलोचना के लिए अपेक्षित बना रहता है। उस समय साहित्य-सिद्धान्त, साहित्यिक आलोचना और साहित्येतिहास का अन्तर मिट जाता है। उन सबमें एक ऐसी वृत्ति निहित रहती है जो अनिवार्यतः ऐतिहासिक होती है।

वास्तव में इन पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार साहित्यिक रचनाओं के अस्तित्व का महत्व समझना, साहित्यिक परिवर्तन-प्रक्रिया समझना और प्रतिपादन, व्याख्या और मूल्य-निर्धारण कर इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध देखना ही साहित्येतिहास की नई दिशाएँ हैं। एक साहित्यिक रचना का प्रभाव तभी तक बना रह सकता है जब तक कि आगे आने वाली पीढ़ियाँ उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती रहें और फिर से उसका महत्व खोज निकालें या ऐसे कृतिकार हों जो उसका अनुकरण करें या उससे बढ़ कर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करें या उसे महत्वहीन सिद्ध करें। पाठक, आलोचक और नए कृतिकार का कलात्मक मानदण्ड किसी कृति का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य तैयार करता है। आर० जी० कौलिंगवुड के शब्दों में : " 'History is nothing but the re-enactment of past thought in the historian's mind' is even more valid for literary history."

मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी के साहित्येतिहासकार उपर्युक्त दृष्टिकोणों का अनुकरण करें। उन्हें मौलिक चिन्तन कर लीक छोड़ने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करनी चाहिए ताकि साहित्येतिहास क्षेत्र का बासीपन दूर हो सके। भारतवर्ष की सुदीर्घ साहित्यिक, व्याकरणिक, काव्यशास्त्रीय, दार्शनिक, भाषा-सम्बन्धी परम्पराएँ इस सम्भावना के लिए अक्षय भण्डार सिद्ध हो सकती हैं। साहित्येतिहास में मानव की अखण्ड चेतना की खोज के ये बाह्य साधन या प्रतीक हैं।

× × × ×

"If the scientific investigator would peep and botanize upon his mother's grave, the literary historian is engaged in trying to number the streaks of the tulip, where he should be engaged with soul."

•



डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (जन्म १९१५ ई०, अलीगढ़) हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्येतिहासकार एवं आलोचक के रूप में सर्वत्र समादृत हैं। लगभग दस वर्ष तक वे प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के वरिष्ठ आचार्य एवं अध्यक्ष रहे। एक सफल, अनुभव-समृद्ध तथा स्वतत्रचेता विद्वान् के रूप में उन्होंने स्पृहणीय ख्याति अर्जित की है। हिन्दी साहित्य के विस्तृत व विशद फलक की तात्त्विक, कालक्रमिक तथा गत्यात्मक चेतना से सम्पन्न रहकर उन्होंने साहित्य के इतिहास-लेखन का गम्भीर दायित्व पूर्ण उत्साह एवं गरिमा से निभाया है। आयु की प्रौढ़ि पर पहुँचकर भी वे हिन्दी साहित्य के जीवन्त प्रवाह पर सजग दृष्टि रखते हुए अपनी साधना में रत हैं और हिन्दी के शीर्षस्थ इतिहासकारों एवं आलोचकों में परिगणित हैं। इतिहास-लेखन के सैद्धान्तिक पक्ष के निर्माण का उनका वर्तमान चरण उनकी साधना की सहज परिणति है।

डॉ० वार्ष्णेय ने अपनी अनेक मौलिक रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है, जिनमें प्रमुख हैं—'फ़ोर्ट विलियम कॉलेज' (१९४७), 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' (१९५१), 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९५२), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१९४१), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९५२), 'प्राचीन हिन्दी-पत्र-संग्रह' (१९५९), 'उन्नीसवीं शताब्दी' (१९६२), 'पश्चिमी आलोचना-शास्त्र' (१९६५), 'बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए संदर्भ' (१९६६), 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ' (१९७०), 'द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९७३)। इन ग्रन्थों में डॉ० वार्ष्णेय ने एक विशिष्ट साहित्येतिहास-लेखन-पद्धति द्वारा सर्वथा नवीन दृष्टिकोण की स्थापना की है। हिन्दी साहित्य के अध्येताओं के लिए उनके इन ग्रन्थों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ



डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (जन्म १९१५ ई०, अलीगढ़) हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्येतिहासकार एवं आलोचक के रूप में सर्वत्र समादृत हैं। लगभग दस वर्ष तक वे प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के वरिष्ठ आचार्य एवं अध्यक्ष रहे। एक सफल, अनुभव-समृद्ध तथा स्वतन्त्रचेता विद्वान् के रूप में उन्होंने स्पृहणीय ख्याति अर्जित की है। हिन्दी साहित्य के विस्तृत व विशद फलक की तात्त्विक, कालक्रमिक तथा गत्यात्मक चेतना से सम्पन्न रहकर उन्होंने साहित्य के इतिहास-लेखन का गम्भीर दायित्व पूर्ण उत्साह एवं गरिमा से निभाया है। आयु की प्रौढ़ि पर पहुँचकर भी वे हिन्दी साहित्य के जीवन्त प्रवाह पर सजग दृष्टि रखते हुए अपनी साधना में रत हैं और हिन्दी के शीर्षस्थ इतिहासकारों एवं आलोचकों में परिगणित हैं। इतिहास-लेखन के सैद्धान्तिक पक्ष के निर्माण का उनका वर्तमान चरण उनकी साधना की सहज परिणति है।

डॉ० वार्ष्णेय ने अपनी अनेक मौलिक रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है, जिनमें प्रमुख हैं—'फ़ोर्ट विलियम कॉलेज' (१९४७), 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' (१९५१), 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९५२), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१९४१), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९५२), 'प्राचीन हिन्दी-पत्र-संग्रह' (१९५९), 'उन्नीसवीं शताब्दी' (१९६२), 'पश्चिमी आलोचना-शास्त्र' (१९६५), 'बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए संदर्भ' (१९६६), 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ' (१९७०), 'द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९७३)। इन ग्रन्थों में डॉ० वार्ष्णेय ने एक विशिष्ट साहित्येतिहास-लेखन-पद्धति द्वारा सर्वथा नवीन दृष्टिकोण की स्थापना की है। हिन्दी साहित्य के अध्येताओं के लिए उनके इन ग्रन्थों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

**भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ**